विश्वभारती पत्रिका

सम्पादक
रामसिंह तोमर

खण्ड १५
अंक ३

आश्विन-अगहन २०३१
अक्टूबर-दिसंबर १९७४

वार्षिक मूल्य १० रु०
विदेश में १५ रु०

विश्वभारती पत्रिका

साहित्य और संस्कृति संबंधी हिन्दी त्रैमासिक

सत्यं ह्येकम्। पन्थाः पुनरस्य नैकः।

अथेयं विश्वभारती। यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्। प्रयोजनम् अस्याः समासतो व्याख्यास्यामः। एष नः प्रत्ययः—सत्यं ह्येकम्। पन्थाः पुनरस्य नैकः। विचित्रैरेव हि पथिभिः पुरुषा नैकदेशवासिन एकं तीर्थमुपासर्पन्ति—इति हि विज्ञायते। प्राची च प्रतीची चेति द्वे धारे विद्यायाः। द्वाभ्यामप्येताभ्याम् उपलब्धमैक्यं सत्यस्याखिललोकाश्रयभूतस्य—इति नः संकल्पः। एतस्यैवैक्यस्य उपलब्धिः परमो लाभः, परमा शान्तिः, परमं च कल्याणं पुरुषस्य इति हि वयं विजानीमः। सेयमुपासनीया नो विश्वभारती विविधदेशप्रथिताभिर्विचित्रविद्याकुसुममालिकाभिरिति हि प्राच्याश्च प्रतीच्याश्चेति सर्वेऽप्युपासकाः सादरमाहूयन्ते।

विश्वभारती पत्रिका, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन के तत्त्वावधान में प्रकाशित होती है। इसलिए इसके उद्देश्य वे ही हैं जो विश्वभारती के हैं। किन्तु इसका कर्मक्षेत्र यहीं तक सीमित नहीं। संपादक-मंडल उन सभी विद्वानों और कलाकारों का सहयोग आमंत्रित करता है, जिनकी रचनायें और कलाकृतियाँ जाति-धर्म-निर्विशेष समस्त मानव जाति की कल्याण-बुद्धि से प्रेरित हैं और समूची मानवीय संस्कृति को समृद्ध करती हैं। इसीलिए किसी विशेष मत या वाद के प्रति मण्डल का पक्षपात नहीं है। लेखकों के विचार-स्वातंत्र्य का मण्डल आदर करता है, परन्तु किसी व्यक्तिगत मत के लिए अपने को उत्तरदायी नहीं मानता।

लेख, समीक्षार्थ पुस्तकें तथा पत्रिका से संबंधित समस्त पत्र-व्यवहार करने का पता :

संपादक, विश्वभारती पत्रिका,
हिन्दी भवन, शान्तिनिकेतन, पश्चिम बंगाल।

हिन्दी-भवन

प्रकाशन की योजना

हिन्दी भवन शान्तिनिकेतन से मूल संपादित तथा शोध-ग्रन्थों के प्रकाशन की व्यवस्था की जा रही है। हलवासिया ग्रंथमाला के अंतर्गत अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ प्रकाशित करने का कार्यक्रम निश्चित किया गया है—प्रकाश्यमान ग्रंथों में से कुछ के शीर्षक हैं:

१. चर्यागीति—मूल पाठ, हिन्दी टीका तथा भूमिका सहित—डा० रामसिंह तोमर।

२. चौरासी सिद्धों की जीवनियाँ—डा० रामसिंह तोमर तथा श्रीछिमेद रिगजेन लामा।

३. वज्रयान—सिद्धान्त और इतिहास—डा० रामसिंह तोमर।

४. सरहपाद की जीवनी और रचनाओं का अध्ययन—डा० द्विजराम यादव (यंत्रस्थ)।

५. चचागीति—मूल पाठ, हिन्दी टीका तथा भूमिका सहित—
डा० रामसिंह तोमर।

राहुल संग्रहालय से प्राप्त हस्तलिखित पोथियों के आधार पर पाठ प्रस्तुत किया गया है।

६. मध्ययुगीन हिन्दी काव्य में प्रयुक्त काव्यरूढ़ियों का अध्ययन—डा० देवनाथ चतुर्वेदी।

७. वज्रयानी साहित्य की सूची, तिब्बती, संस्कृत, अपभ्रंश तथा आधुनिक भाषाओं में प्राप्त वज्रयानी ग्रंथों की पूर्ण सूची—दो भागों में—डा० द्विजराम यादव।

८. मध्ययुगीन साहित्य में प्रयुक्त दार्शनिक, धार्मिक एवं प्रतीकात्मक शब्दों का प्रामाणिक कोश—बौद्ध, ब्राह्मण, जैन आदि संप्रदायों तथा तंत्र, योग, आगम आदि शा त्रों के शब्दों का संग्रह तथा उनका अर्थ—
रामसिंह तोमर, रणजीत कुमार साहा।

९ हरिचरित—दोहा-चौपाई निबद्ध अवधी में रचित प्राचीनतम कृष्ण का चरित लालचन्द दास हलवाईकृत—संपादिका डा० कणिका तोमर।

१०. आलवारों की मूल वाणियों का प्रामाणिक हिन्दी अनुवाद—पं० श्रीनिवास राघवन।

विश्व भारती पत्रिका

सम्पादक : रामसिंह तोमर

आश्विन-अगहन २०३१ खंड १५, अंक ३, अक्टूबर--दिसंबर १९७४

विषयानुक्रमणिका

लेखकानुक्रमणिका

इकबाल अहमद—अध्यापक, कालीकट विश्वविद्यालय, केरल।
ओम्प्रकाश—अध्यापक, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।
गिरीश रस्तोगी—अध्यापिका, गोरखपुर विश्वविद्यालय, गोरखपुर
चद्रप्रभा योगी—शोध प्रज्ञा, हिन्दी भवन, शान्तिनिकेतन।
जैनेन्द्र वात्स्यायन—शोध प्रज्ञ, प्राचीन भारतीय इतिहास विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय।
त्रिभुवन सिंह—अध्यापक–काशी हिन्दू विश्वविद्यालय।
दिलीपनारायण सिंह—अध्यापक-राजनीतिशास्त्र, उदय प्रताप कॉलेज, वाराणसी।
मदनचद भट्ट—इतिहास विभागाध्यक्ष, राजकीय महाविद्यालय, पौडी, गढवाल।
माणक तिवारी बधु—लेखक, रतनविहारी पार्क, बीकानेर।
रहमत उल्लाह—अध्यापक, नेशनल शिबली कॉलेज, आजमगढ।
लक्ष्मीनारायण वर्मा—अध्यापक, क० कॉलेज, इटावा (उ० प्र०)।
श्रीधर पाठक—शोधप्रज्ञ, प्रा० भा० इ० विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय।

विश्वभारती पत्रिका

आश्विन-मार्गशीर्ष २०३१ खंड १५, अंक ३ अक्टूबर-दिसम्बर १९७४

दुरन्त प्राणेर गान

—रवीन्द्रनाथ ठाकुर

आमरा खुँजि खेलार साथि।
भोर ना हते जागाइ तादेर
घुमाय जारा सारा राति॥

आमरा डाकि पाखिर गलाय,
आमरा नाचि बकुलतलाय,
मन भोलाबार मंत्र जानि,
हावाते फाँद आमरा पाति॥

मरण के तो मानि ने रे,
कालेर फाँसि फाँसिये दिये,
लूट करा धन निइ जे केड़े।

आमरा तोमार मनोचोरा,
छाड़ब ना गो तोमाय मोरा,
चलेछ कोन् आँधार-पाने
सेथाओ ज्वले मोदेर बाति॥

—फाल्गुनी

हिन्दी छाया

अदम्य प्राणों के गान

हम खेल के साथी को खोजते हैं।
भोर होते ही उन्हें जगाते हैं,
जो सारी रात सोते हैं।
हम पक्षियों के स्वर में बोलते हैं,
हम मौलश्री वृक्ष के नीचे नाचते हैं,
मन-लुभाने का मंत्र जानते हैं,
हम हवा में जाल फैलाते हैं।
मरण को तो हम नहीं मानते,
काल के फंदे को फाँसी देकर
लूटे हुए धन को छीन लेते हैं।
हम तुम्हारे मन चोर हैं,
तुम्हें हम छोड़ेंगे नहीं,
किस अँधेरे की ओर चले जा रहे हो
वहाँ भी हमारा दीपक जल रहा है।

—o—

चल खुसरू घर आपने रैन भई चहुं देस :
खुसरू, हिन्दी और परम्परा

दिलीप नारायण सिंह

इस लेख में अधिकांश उद्धरण, जो खुसरू के 'नूह सिपेहर' के हैं, डा० सैयद अतहर अब्बास रिजवी के 'खलजी कालीन भारत' से लिये गये हैं। 'मसनवी दिवल रानी खिज्रखां' से सम्बन्धित उद्धरण श्री ब्रजरत्न दास के 'खुसरू की कविता' तथा इलियट एवं डाउसन के 'हिस्ट्री आव इण्डिया एज टोल्ड बाई इट्स ओन हिस्टोरियनस' से लिये गये हैं। —लेखक

हिन्दी साहित्य के जानकारो में विरला ही कोई ऐसा व्यक्ति होगा, जो अमीर खुसरू के नाम से परिचित न हो, किन्तु यह जानकारी, उसके यथार्थ व्यक्तित्व के सम्बन्ध में, कितनी पूर्ण है यह कह पाना कठिन है। उसने एक जनाख्यात अथवा गाथा चरित्र का रूप धारण कर लिया है। अतएव जिस रूप में वह हमारे सामने आता है उसमें से तथ्यत: क्या वह था और क्या नहीं, परिश्रम, अध्ययन और जांच की अपेक्षा रखता है; किन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं कि उसके सम्बन्ध मे निश्चित रूप से हम कुछ जानते ही नहीं। वस्तुतः इस रूप में भी हमारी जो जानकारी है वह कम महत्व-पूर्ण नहीं।

हमारी जानकारी में वह फारसी भाषा का एक रस सिद्ध और ख्यात कवि हो गया है। उसकी गणना हिन्दी के आदि कवियों में की जाती है। हिन्दी में उसकी जितनी भी कविताएं सुलभ हैं वे सभी की सभी उपलब्ध हैं अथवा और भी इधर-उधर दबी पड़ी हैं। जो सुलभ हैं उनमें से वे कितनी मूलरूप में हैं और कितनी परिष्कृत हैं, जिस रूप मे भी हों, उनमें से कितनी उसकी हैं और कितनी दूसरों की मिली हुई हैं, यह सब बाते अभी तक अन्तिम रूप से निर्णीत नहीं हो पायी हैं। फिर भी जो मान्य रचनाएं हैं परिमाण मे स्वल्प होती हुई भी वे सदैव स्मरण की जाएंगी क्योंकि उसने हिन्दी की ये सेवाएं उस समय की थीं जब हिन्दी भाषा का रूप अभी निखर कर स्थिर हो ही रहा था। जब हिन्दी साहित्य की नींव डाली जा रही थी। यह हिन्दी का उद्भव काल था। जब हमारे ध्यान में उस समय की यह स्थिति और यह बात आती है कि वह एक विदेशी नवागन्तुक पिता की सन्तान, हिन्दी के लिये सहज भाव से अपने-पन का अनुभव करता हुआ, उसकी श्रीवृद्धि के लिए अग्रसर हुआ, उसका मूल्य हमारी दृष्टि में अत्यधिक बढ़ जाता है।

इस कार्य से भी कहीं अधिक मूल्यवान् थे उसके इस देश, इसकी विशेषताओं और हिन्दी से सम्बन्ध रखने वाले गर्व, आत्मीयता और अभिमान से भरे भाव, जो उक्तियों

के रूप में, उसकी फारसी की कृतियों में यत्र-तत्र बिखरे दिखाई पड़ जाते हैं। यदि सम्यक् रूप से इनकी व्याख्या की जाय तो हम देखेंगे कि एक ओर भाव के रूप में जहां ये उसके व्यक्तित्व का एक जीवन्त, दूरदर्शी एवं सदाशयता पूर्ण पक्ष उजागर करते हैं तो वहीं दूसरी ओर उसमें अन्तर्निहित सूचनाएं, उस काल से सम्बन्ध रखने वाली, जटिल बनायी गयी कुछ परिस्थितियों को स्पष्ट करने और राजनैतिक उद्देश्यों से प्रेरित कुछ लोगों द्वारा बुने गये मिथ्या जाल को उच्छिन्न करने में भी सहायक होती हैं।

इस प्रकार के उसके ये हार्दिक भाव हमें अधिकांशतः उसकी एक छोटी-सी कृति 'नूह सिपेहर' के तीसरे सिपेहर में तथा कुछ 'मसनवी दिवल रानी खिज्रखां अथवा आशिका' में मिलते हैं। नूह सिपेहर में तत्कालीन भाषागत स्थिति की सूचना वह हमें इन शब्दों में देता है, "अन्य भाषाओं के समान हिन्दुस्तान में भी प्राचीन काल से हिन्दवी भाषा बोली जाती थी, किन्तु गौरियों तथा तुर्कियों के आगमन के उपरान्त लोगों ने फारसी का भी ज्ञान प्राप्त करना आरम्भ कर दिया।"

इस उद्धरण के आधार पर असंदिग्ध रूप से इस तथ्य की स्थापना हो जाती है-- उस क्षेत्र में जिसे वह हिन्दुस्तान कहता है, मुसलमान आक्रमणकारियों के आगमन पूर्व बहुत अधिक समय से हिन्दवी अथवा हिन्दी बोली जाती थी। तुर्क आक्रमणकारी अपने साथ फारसी लाये। वे मुख्य रूप से उसका प्रयोग करते थे। स्थायी रूप से उनके यहाँ बस जाने के उपरान्त यहाँ के लोग भी फारसी सीखने लगे और उसका भी प्रचलन यहाँ आरम्भ हो गया। इस व्याख्या से किसी का मतभेद नहीं हो सकता, किन्तु इस प्रकरण में हिन्दी के लिये हिन्दुई अथवा हिन्दवी (फारसी लिपि में दोनो ही पढ़े जा सकते हैं) और उस क्षेत्र के लिये हिन्दुस्तान शब्दों का प्रयोग भ्रान्ति उत्पन्न करते हैं।

सच पूछा जाय तो इस भ्रान्ति की कोई गुंजाइश नहीं। यदि इस उक्ति के पृष्ठ-भूमि के रूप में संदर्भित उस काल का विवेचन किया जाय, जिसमें स्वयं खुसरू विद्यमान था तो वह स्वतः दूर हो जाएगी। वह काल है ईसा के उपरान्त १२ वीं शती के अन्तिम दशक से लेकर १३ वीं शती तक की कालावधि। इसमें उसी कालावधि में होनेवाली ऐतिहासिक प्रक्रियाओं की ओर संकेत है, जो हमारे इतिहास के लिये महत्वपूर्ण ही नहीं निर्णायक घटनाओं में से भी एक थी। क्षेत्रीय दृष्टि से इनका सम्बन्ध पश्चिमोत्तर भारत से था। प्रारम्भिक काल में तो तुर्क आक्रमणकारियों ने अफगानिस्थान को केन्द्र बनाकर पंजाब के मार्ग से दिल्ली पर आक्रमण किया। विजयोपरान्त दिल्ली को केन्द्र बनाकर एक शक्तिशाली सल्तनत की स्थापना की। आक्रमणकारी उनके साथ बाद में आनेवाले विदेशी मुस्लिम, जो अधिकांशतः तुर्क थे, इसी क्षेत्र में स्थायी रूप से बस गये। उनके साथ उनका धर्म इस्लाम, धार्मिक भाषा अरबी, उनकी संस्कृति (जो उस समय मिश्रित थी), सांस्कृतिक भाषा फारसी, जातीयता और जातीय भाषा तुर्की भी आई। इनके सत्ता में आने के उपरान्त इन सबको राज्याश्रय और राज्य का समर्थन प्राप्त हुआ। उन्होंने यहाँ के निवासियों को भी, जिनकी अपनी संस्कृति और अपनी

भाषा थी, नाना प्रकार के उपायों का अवलम्बन करके, अपने धर्म में दीक्षित करने की प्रक्रिया आरम्भ की। धर्मान्तरित अधिकांशतः साधारण स्तर के लोग थे, जिनमें से अच्छी संख्या के लोग सैनिक के रूप में सेना में भर्त्ती हो गये।

यहां यह ध्यान देने की बात है कि इस समय उनका प्राथमिक और प्रत्यक्ष सम्पर्क पंजाबी तथा हिन्दी भाषा भाषी क्षेत्रों से ही हुआ। उनमें से भी केन्द्रीय रूप से संलग्न थे हिन्दी भाषा भाषी क्षेत्र से ही रहे, जो अब आगे की इनकी सैनिक और राजनैतिक कार्यवाहियों के लिये स्थायी अभियान-आधार बना। अतएव उस काल की उनकी उक्तियां इसी क्षेत्र के परिप्रेक्ष्य में थीं। हिन्दुई नाम उन्होंने इसी क्षेत्र की भाषा को दिया और बहुधा हिन्दुस्थान शब्द का प्रयोग भी वे इसी क्षेत्र के लिये करते रहे। खुसरू में भी हिन्दुस्तान का प्रयोग इन दोनों ही भावों मे मिलेगा।

इसी निर्णायक काल के अन्तिम दौर की महत्वपूर्ण स्थितियों में प्रधान भूमिका निर्वाह करनेवाले उल्लेखनीय व्यक्तियों के साथ खुसरू भी सहयुक्त था। उसका पिता सैफुद्दीन बलख हजारा मे मुगलों के अत्याचारों के कारण भागकर आरम्भिक काल में ही यहां आ गया था और आज के उत्तर प्रदेश के पश्चिमी जिला एटा के एक ग्राम पटियालवी में स्थायी रूप मे बस गया था। उसकी पहुंच दूसरे सुल्तान इल्तुतमिश के दरबार में हो गई। यहीं उसने विवाह किया। यहीं उसका तीसरा पुत्र अब्बुलहसन ई० सन् १२५५ (अथवा १२५३) में जन्मा, जिसका उपनाम खुसरू इतना ख्यात हुआ कि फिर मूल नाम का लोगों को स्मरण ही नहीं रहा।

हम समझ सकते हैं कि इस काल में मुसलमानों के आगमन के पूर्व, जो स्थिति थी, उनके आने के उपरान्त जो प्रक्रिया आरम्भ हुई और अन्ततः जो परिणाम निकले, उन सबका वह प्रत्यक्षदर्शी था। इसीलिये कि उनका आधार वे प्रत्यक्ष घटनाएं अथवा सूचनाएं थीं जिन्हें या तो स्वयं उसने देखा, जाना, अनुभव किया अथवा उन बड़े-बूढ़े-सगे-सम्बन्धियों से संग्रह किया, जिन्हें उनकी प्रत्यक्ष जानकारी थी। खुसरू की सूचनाओं की सीमा यहीं तक नहीं थी। वह प्रकृत्या उदार, जिज्ञासु और ज्ञान पिपासु था। यही कारण था कि अपने सधर्मियों के स्वभाव के विपरीत, उसने अपने को भारतीय, इस देश को अपना देश, यहां की भाषा हिन्दी को अपनी भाषा के रूप में ही अंगीकार नहीं किया, वह यहां के लोगो से मिलता जुलता रहा और यहां की सांस्कृतिक निधियों से कुछ अर्जित करके अपने ज्ञानकोष को समृद्ध करने की चेष्टा की। इसकी उपेक्षा करने का आरोप भी अपने सहधर्मियों पर लगाया। यह सब उसकी इन उक्तियों मे स्पष्ट हो जाता है, "यहां का ब्राह्मण विद्वत्ता में अरिस्तू के समान होता है।—यहां बहुत बड़े-बड़े विद्वान् ब्राह्मण पाये जाते हैं। किन्तु अभी तक किसी ने उनसे पूर्णतया लाभ नहीं उठाया अतः उनके विषय में अभी तक जानकारी नहीं हो सकी है। मैंने उन लोगों से कुछ शिक्षा ग्रहण की है, अतः मैं उन लोगों का महत्व समझता हूं" यही कारण है कि आरम्भिक काल में होते हुए भी वह संस्कृत और हिन्दी का भेद कर पाता है, "इसके अतिरिक्त एक अन्य भाषा है जिसका प्रयोग केवल ब्राह्मण करते हैं।

इसका सर्वसाधारण को कोई ज्ञान नहीं। इसका नाम संस्कृत है।" व्याप्ति को लेकर वह दोनों भाषाओ के बीच जिस रूप में सीमांकन कर सका यह उसके प्रेक्षण और विशिष्टताओं के पकड़ की शक्तियों का परिचायक है। इन्ही शक्तियो के कारण भारत की भाषागत स्थिति का उसने ठीक आकलन किया।

हिन्दी, हिन्दुई अथवा हिन्दी का प्रयोग संस्कृत के लिये तो किया ही नही गया था, यह तो इससे स्पष्ट हो ही जाता है, इसके अतिरिक्त उसकी भ्रान्ति अन्य प्रादेशिक भाषाओं के साथ न हो जाय, इसका भी निराकरण वह स्वयं ही इन शब्दो में करता है, "हिन्दुस्तान के भिन्न-भिन्न भागों में भिन्न-भिन्न भाषाए बोली जाती हैं। सिन्धी, लाहौरी, कश्मीरी, कूबरी, धीर समुद्री, तिलगी, गूजरी, माबरी गौरी, बंगाली तथा अवधी, भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न भागों मे बोली जाती है।"

अब इससे और अधिक स्पष्ट क्या किया जा सकता था कि निज के अपने क्षेत्र में हिन्दी के अतिरिक्त, भारत के अन्य क्षेत्रों की अपनी विशेष प्रादेशिक भाषाएं थीं। उत्तर, पश्चिमी भारत की पाँच विभिन्न भाषाओं का उल्लेख यहाँ है। जिन सभी भाषाओं की गणना यहाँ की गयी है, उनमे से अधिकांश को हम आज प्रादेशिक भाषाओं के रूप में पहिचान कर सकते हैं। सिन्धी, कश्मीरी, गूजरी, बगाली तथा अवधी के नामो से हम परिचित ही हैं। लाहौरी आज की पंजाबी तथा तिलगी आज की तेलगू के लिये है। कूबरी एक समस्या लगती थी, किन्तु ईलियट तथा डाउसन के अंगरेजी अनुवाद में, इसके स्थान पर डोगरी पाठ मिलता है, जो ठीक लगता है और जिससे हम आज अच्छी तरह परिचित हैं। धीर समुद्री का शुद्ध रूप द्वारसमुद्री है, जो वस्तुतः उस क्षेत्र का द्योतक है जो आज मैसूर है। अतएव इससे उसका अभिप्राय कन्नड़ी भाषा से रहा होगा। माबरी यों देखने में तो मलयाली का ही विकृत रूप लगता है, किन्तु खुसरू की पुस्तकों में वर्णित माबर तमिल क्षेत्र है। अतएव माबरी से अभिप्राय तमिल भाषा से रहा होगा। गौरी गौड़ी का ही सरलीकृत रूप लगती है। किन्तु गौड़ की भाषा बगाली का नाम आ चुका है, अतएव हो सकता है फारसी लिपि में लिखे जाने के कारण औड़ी (उडिया) का यह रूप हो गया हो।

सच तो यह है कि अन्तिम तीन भाषाओं के विषय में एक दम निश्चित और अन्तिम रूप से कुछ कह पाना यहाँ कठिन है। इसके लिये विशेष शोध की आवश्यकता है।

भाषा के सम्बन्ध मे ये जो सूचनाएं हमें मिलती हैं, उनके आधार पर हम कुछ विशेष तथ्य लक्ष्य कर सकते हैं। एक तो, आज की दृष्टि से पश्चिमोत्तर भारत की सभी भाषाओं की गणना की गयी है, किन्तु राजस्थान और गुजरात की भाषाओं के विषय में कोई चर्चा नहीं है। जिस समय यह पुस्तक लिखी गयी थी उसके बहुत पहले ही मुसलमान आक्रमणकारी इन प्रदेशों को भलीभांति पदाक्रान्त कर चुके थे। लगता है उनकी स्थिति हिन्दी से स्वतन्त्र नही मानी गयी। दूसरे हिन्दी तथा गूजरी के अतिरिक्त अन्य सभी भाषाओं के नाम क्षेत्रीय आधार पर हैं। तीसरे, अवधी की गणना

हिन्दी से पृथक् तथा स्वतन्त्र रूप में की गयी है। चौथे, ब्रज तथा खड़ी दोनों बोलियों के बीच किसी प्रकार का भेद नहीं किया गया। वह दोनों के लिये ही हिन्दी का प्रयोग करता है। उसने स्वयं अपनी कविताओं मे भी दोनों का पृथक्-पृथक् तथा मिश्रित दोनो ही रूपों में व्यवहार किया है। ऐसा लगता है साहित्यिक प्रयोग में तीनों ही रूप प्रचलित थे, जिनका अनुसरण उसने भी किया।

इन सूचनाओं से यह तो असंदिग्धरूप से स्पष्ट हो जाता है कि हिन्दी या हिन्दुई का प्रयोग उसके द्वारा जो किया गया, वह कुछ अपवादों को छोड़कर उसी के लिये है जिसे हम आज पश्चिमी हिन्दी के रूप मे जानते हैं। उसके क्षेत्र का निरूपण जिस रूप में वह करता है, वह विवाद के सारे द्वार ही बन्द कर देता है, "देहली के आस-पास हिन्दुई भाषा बोली जाती है जो प्राचीन काल से प्रचलित है।" यह निश्चित रूप से खड़ी बोली और व्रज का क्षेत्र है।

हिन्दी के विषय में उसका ज्ञान सतही नहीं था। उसने स्वयं जिस हिन्दी का प्रयोग किया है वह साफ-सुथरी, मंजी हुई और चलती ही नहीं वरं सुगठित और सुरचित भी है। ऐसी भाषा ऐसे ही व्यक्ति द्वारा लिखी जा सकती थी जो उसका जानकार होता और जिसका उसपर अधिकार होता। उसे हिन्दी का अच्छा ज्ञान ही नहीं, वरं जिस भाषा मे उसने जीवन खपाया और वस्तुतः जिसके कारण आज वह अमर है, उस फारसी भाषा मे यदि अधिक नहीं तो किसी प्रकार का कम लगाव उसे हिन्दी से नहीं था। उसके व्यक्तित्व का यह भी एक चमत्कार पहलू है। इसका प्रमाण है उसके 'मसनवी दिवल रानी खिज्रखां' का एक प्रासंगिक स्थल।

इस मसनवी में सुल्तान अलाउद्दीन खिलजी के ज्येष्ठ पुत्र खिज्रखां का गुजरात के पराजित तथा निर्वासित शासक महाराजा कर्ण की पुत्री, देवल देवी के साथ की प्रेमकथा का वर्णन है, जिसके प्रस्तुत करने के कारणों पर प्रकाश डालता हुआ, उसके आरम्भिक अंश मे ही वह हमें सूचित करता है कि एक दिन युवराज ने उसे बुलाया और अपने प्रेम के विषय में उसे बताया। ध्वन्यात्मक रूप से आशय यह प्रकट किया गया था कि कवि इस प्रेमगाथा को काव्यरूप प्रदान करे। इस वार्ता के अनन्तर एक दासी आई और उसने हिन्दी में लिखी इस सम्बन्ध की कहानी दी। कहानी तो थी हिन्दी में किन्तु बातें फारसी में उतारनी थी, जिन्हें लेकर उसके समक्ष कुछ उलझनें आ खड़ी हुईं। इसी प्रसंग में उसने फारसी और हिन्दी के सम्बन्ध में सूक्ष्म रूप से विचार किया और अपने विचार व्यक्त किये।

वह कहता है, "किन्तु मैं भूल में था, क्योंकि यदि तुम इस विषय की अच्छी तरह विवेचना करो तो तुम्हें हिन्दी भाषा फारसी से हीन नहीं लगेगी। यह अरबी ही है जो सभी भाषाओं में प्रमुख है। इस विषय पर अच्छी तरह विचार-विमर्श करने के उपरान्त मैंने जान लिया है कि कई और रूप की प्रचलित भाषाएं हिन्दी से हीन हैं।" इसके पश्चात् वह अरबी से हिन्दी की तुलना करते हुए इसकी विशेषता पर प्रकाश डालता है, "सबसे अच्छा धन वह है जो अपने कोष में बिना मिलावट के हो और न

रहने पर मांग कर पूंजी बनाना अच्छा है। हिन्दी भाषा इस अर्थ में अरबी के समान है कि दोनों में मिलावट के लिये स्थान नहीं। यदि अरबी में व्याकरण और वाक्य रचना विधान है तो हिन्दी में उससे तिलभर भी कम नहीं है।" इसी प्रसंग मे वह भाव प्रवाह में बह निकलता है और विदेशी स्थानों, वस्तुओं आदि के साथ तुलना करता हुआ भारत की वस्तुओं को श्रेष्ठ ठहराता है और यहाँ के स्थान, वस्तु, पक्षी, नदी की प्रशंसा करता है, "वह जो गंगा और हिन्दुस्तान से दूर है, नील और दजला पर गर्व कर सकता है; वह जो किसी उद्यान में चीनी बुलबुल को ही सुनता है, क्या जानता है कि हिन्दुस्तानी तोता क्या चीज है।"—"उस खुरासानी के लिये जो सभी हिन्दियों को मूर्ख समझता है, पान की पत्ती का मोल घास से अधिक नहीं। कोई भी बुद्धिमान और न्यायी व्यक्ति जो अनेक देशों की यात्रा कर चुका है, खुसरू की इन उक्तियों पर विश्वास करेगा।"—"वे ही जो पक्षपातपूर्ण ढंग से बातें करेंगे मेरे आम को अपने अंजीर से नीचे की कोटि में रखेगें।"—"हिन्दुस्तान को तुम्हें स्वर्ग के रूप मे देखना चाहिए, जिससे वस्तुतः वह है भी सम्बन्धित, अन्यथा आदम और मयूर (वहां से) यहाँ क्यों भेजे जाते?"

ऐसे व्यक्ति के ये उद्गार जो अपने समय में फारसी भाषा का एक मान्य और श्रेष्ठ कवि था और जिसका जीवन उस समय के ऐसे दुर्दान्त, नृशंस, रक्तपिपासु, युद्ध लोलुप, क्रूरकर्मा सुल्तानों के दरबारों को ही अलंकृत करने मे बीत रहा था, जो धर्मोन्मादी और असहिष्णुता की मूर्ति थे, और जो, इस धरती को, काफिरों के शोणित से सींच कर, उनसे इसे विहीन करने में ही अपने धर्म की इतिश्री समझते थे, अनपेक्षित रूप से आश्चर्यजनक लगते हैं। किन्तु ये मात्र उद्गार ही नहीं इनके मूल में अरबी, फारसी तथा हिन्दी की भाषा के रूप में, मीमांसा तथा उनके सम्बन्ध मे चिन्तन है, जिनपर विचार करते समय, उनके व्याकरण, शब्दावली, वाक्य तथा अर्थ प्रकट करने की शक्ति पर ध्यान दिया गया है। कहानी पढने के उपरान्त उसके समक्ष कुछ आधारभूत प्रश्न उठे, जिनके सम्बन्ध मे मनन करने के उपरान्त कुछ निर्णयों पर पहुचा और उन्हें बिना लाग लपेट के सबके सामने रख दिया।

किसी भी भाषा की अपनी एक स्वाभाविक विशेषता और प्रवृत्ति होती है जो अन्य बहुत-सी विशेषताओ के साथ मिलकर उसके साहित्य को प्रभावित करती है। उसने इन्हे समझा। वाक्यरचना में प्रधान स्थान क्रिया का होता है, जो भाव या विचार को एक स्वरूप प्रदान करती है। हिन्दी में सहायक तथा प्रधान क्रियाएं तो हैं ही, साथ ही इनमें ऐसी विशेषता है जिसके कारण काल के साथ लिंग का भी स्पष्ट बोध होता है और उस स्वरूप को एक निश्चितता प्राप्त होती है। उसके अपने विशिष्ट सर्वनाम तथा संकेत वाचक विशेषण के शब्द है, जिनका विकास उस समय तक हो चुका था। उसकी अपनी विभक्तियां तथा कारक चिह्न हैं, जिनसे शब्दो का पारस्परिक सम्बन्ध, स्थिति तथा भाव का उपयुक्त रूप से निर्धारण हो सकता है। सन्धि के उसके अपने नियम हे तथा समास हैं। जहां वह व्याकरण और वाक्यरचना विधान की बात करता

है, उस समय ये सभी बातें स्पष्ट रूप से उसके सामने थीं। इन दृष्टियों से ब्रज तथा खड़ी बोलियों में कोई विशेष भेद नहीं था। आज जिसे हम उर्दू भाषा के नाम से पुकारते हैं, उसके मूल मे हिन्दी की अधिकांश विशेषताएं ज्यो की त्यों हैं। समास के स्थान पर अत्फ और इजाफत और कारक चिह्नों के लिये दर और अज का प्रयोग तथा अरबी-फारसी शब्दावली का सहारा लेकर भी हिन्दी के आधारभूत रूप से वह छुटकारा नही पा सकी और जिसके कारण हारकर इकबाल को अन्ततोगत्वा उसे त्यागकर फारसी ही अपनानी पडी। खुसरू ने इसकी सहज प्रकृति को समझा और उसने किसी भाषा का निर्माण नही किया वरं (उसके ही शब्दों मे) प्राचीन काल से प्रचलित इसी हिन्दी का प्रयोग किया और उसकी प्रवृत्ति का अनुसरण। अवश्य ही यह नाम उसके सधर्मियों का ही दिया हुआ था, जिसे उसने स्वीकार करके व्यवहार किया तथा उसके बाद भी कम से कम तीन शती तक दक्षिण में उसके सधर्मी लोग इसे इसी नाम से पुकारते रहे।

उसकी प्रकृति और प्रवृत्ति के दर्शन जिस रूप में उसने किये, उसने अनुभव किया कि उसमे मिलावट की गुंजाइश नहीं। शब्दो की मिलावट यदि हुई भी तो उसी के रूप मे ढालकर अन्यथा वह भाषा नहीं रह जाएगी। जिस समय उसने मिलावट की बाते की उस समय उसके सम्मुख केवल शब्दावली ही नहीं, लिपि भी थी। क्योंकि दोनो ही अवस्था मे उसके विकृत होने की आशंका उसे भी थी। उसने यह अनुभव किया कि उसकी प्रवृत्ति का मूल यहाँ की मिट्टी मे है, जिससे उसे विलग नही किया जा सकता। यही कारण है कि जब उसने फारसी और हिन्दी की बातें की, वह भावना के प्रवाह मे बह गया। क्योंकि फारसी उन सभी बातों का प्रतीक थी जो विदेशी थीं। उसके सामने इन दोनों के साथ ही देशी और विदेशी प्रवृत्तियों का एक संघर्षमय रूप खड़ा हो गया था।

यदि हम इन उक्तियों मे गहरे पैठने की चेष्टा करे तो संघर्ष का यह स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। वह जिन सुल्तानो और सामन्तों का अपने काव्य के द्वारा अनुरंजन करने की चेष्टा करता था, वे विदेशियों की सन्तान थे। अपने मूल स्थानो और भाषाओ से भावनात्मक रूप से संलग्न थे। वे भाषाएं अपने मूल स्थान की परम्पराओ, मान्यताओ और भौगोलिक परिवेशों से विच्छिन्न नहीं हो सकती थीं। उन्हें इनका मोह था। अतएव, इसके रहते हुए वे न तो इस स्थान के साथ आत्मीयता का अनुभव कर सकते थे और न उस विदेशीपन से ही मुक्त हो सकते थे। वाद-विवाद-चर्चाओं में यहाँ की वस्तुओं की वे निन्दा करते थे और अरब-फारस-तुर्की के स्थानों तथा वस्तुओं की प्रशंसा। उनका शरीर तो यहाँ था किन्तु उनकी अन्तरात्मा वहीं बसती थी जहाँ से वे अथवा उनके पूर्वज यहाँ आये थे।

उन्हीं के सदृश एक विदेशी की ही सन्तान होते हुए भी खुसरू की मानसिक स्थिति इनसे भिन्न थी। उसे उनके ये भाव, उनकी ये बातें और उनका यह रुख रुचता न था। इसमें सन्देह नहीं कि उसी राजनैतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक परिवेश में उसने

जन्म लिया, उसका पालन-पोषण हुआ और वह सांस ले रहा था, किन्तु, यह सब होते हुए भी, मूलतः उसकी प्रकृति ही भिन्न थी। उसका अपना व्यक्तित्व था, जिसके मुख्य विधायक तत्व थे—विवेक, उदारता, सहिष्णुता, कला-भावना, सहृदयता, गूढ़ज्ञान-लिप्सा और मुक्त-मस्तिष्क। इसके कारण वह अपने को उस धारा मे विलीन न कर सका। उस परिवेश में रहते हुए भी उससे ऊपर ही रहा। अपने काव्य-कौशल और प्रतिभा के बल पर उसने उनमे अपना प्रमुख स्थान बनाया, उसके सम्मान और प्रेम का भाजन बना, उन्हे प्रसन्न कर अथाह सम्पत्ति अर्जित करता रहा और निरन्तर उन्नति के शिखर पर चढ़ता चला गया। किन्तु उसके हृदय को वहाँ शान्ति न मिल सकी।

वह मिली तो उसे फकीरों के शाह, चिश्ती समुदाय के प्रमुख सन्त शेख निजामुद्दीन औलिया के दरबार मे।

संत के सम्पर्क में वह अल्पवयसे ही था। संत ने उसके हृदय में एक अनोखी लौ जला दी थी, जो उसके जीवन के अन्तिम काल तक जलती रही। सन्त का यह सम्प्रदाय आरम्भ से ही ज्ञानान्वेषी, जीवन के मूल स्थित रहस्यों के भेदन के लिये उत्सुक था। उसने अपने को अपने धर्म तक ही सीमित नहीं रखा, दूसरे धर्मों की रहस्यात्मक अनुभूतियों से भी लाभ उठाया। हिन्दू सन्त-साधुओं से भी सम्पर्क रखा और उनसे प्राप्त ज्ञान को भी अंगीकृत किया। दूसरे मुस्लिम सम्प्रदायों को अपने धर्म से इतर-ज्ञान के अपनाने जाने पर विरोध था। वे अपने धर्म को शुद्ध रूप मे रखना चाहते थे। अतएव इसके लिये वे विरोध प्रकट भी करते रहे। चिश्तियों ने इस विरोध की परवाह नहीं की। खुसरू ने भी गुरु परम्परा से प्राप्त इस सदाशयता को प्रखर रूप से बनाये रखा और उसका निर्वाह किया। खुसरू के व्यक्तित्व मे सदाशयता का यह पक्ष जो पनपा, विकसा और उभरा उसमे सन्त और उनकी परम्परा का भी विशेष हाथ था।

यही नही, इस दरबार मे उसकी आत्मा का संस्कार और परिष्कार होता था। वह अपने को उस अहंकार मे मुक्त कर पाता जो महान सुल्तानों के दरबारों मे प्राप्त पद सम्मान और प्रशस्ति के कारण उसमे फूटता। यहाँ इस दरबार मे कोई छोटा या बड़ा नहीं था। सब अल्लाह के बन्दे थे। सब समान थे। यहाँ के माध्यम से उसका सम्पर्क जनता-जनार्दन से होता। उससे उसकी बुद्धि और हृदय दोनों का संस्कार होता। प्रसन्नवदन (जो उसके उपनाम का अर्थ है) वह अपनी प्रसन्नता की निधि उनके बीच लुटाता और निष्काम भाव से उनका अनुरंजन करता। लौटते समय उसके पास एक अक्षय, अलौकिक, अतीन्द्रिय और दुर्लभ निधि होती। वह मिट्टी का मोल समझता। इस प्रकार उसके पास दोनो प्रकार के जीवन का अनुभव था।

इनके, शेख निजामुद्दीन और अन्य ज्ञानियों के बीच बिना किसी दीवाल के रहकर उसने इस देश का, जिसे जन्म के कारण अपना बोध करता था, महत्व समझा। उसका यही आत्मीय भाव था, जिसके कारण यदि किसी ने खुरासान, ख्वारिज्म अथवा बुखारा की प्रशंसा की तो वह उसे सहन न हो सका, तुरन्त उत्तर दिया, "देहली के समान

कोई नगर नहीं। खिता, खुरासान, त्रिमिज, तबरेज, बुखारा, ख्वारिज्म कोई भी देहली का मुकाबला नहीं कर सकते।" यदि किसी ने उन स्थानो की ऋतुगत श्रेष्ठता की सराहना की और यहाँ की गर्मी की शिकायत की तो उसने चट अपना प्रतिवाद प्रस्तुत किया, "हिन्दुस्तान स्वर्ग के समान है। यहाँ की जलवायु खुरासान से कहीं अच्छी है।" यहाँ की ऋतुओं की प्रशंसा करता हुआ यहाँ की वस्तुओं की भी श्रेष्ठता स्थापित करता, "यहाँ साल भर हरियाली तथा फूलों के कारण बहार रहती है। यहाँ के अमरूद तथा अगूर की उपमा नहीं दी जा सकती, आम, केला, इलायची, काफूर, लौंग यहाँ अधिकता से पाये जाते है। हिन्दुस्तान में बहुत से ऐसे मेवे मिलते है जो किसी अन्य स्थान पर नही पाये जाते। पान के समान संसार में कोई अन्य वस्तु नहीं।"

इन पंक्तियों से जो भाव हमारे सामने आते है उनसे हम सहज ही अनुमान लगा सकते है कि उस समय से ही भारतीयता और अभारतीयता को लेकर मुस्लिम आक्रमण-कारियों के उच्च वर्ग मे (जो पूर्णतः विदेशी या उनकी सन्तान था) किस प्रकार का सांस्कृतिक संघर्ष चल रहा था और इस सम्बन्ध में खुसरू की भावनाएं किस ओर थीं और वह किस प्रकार उनमे जूझ रहा था। उसकी भावपूर्ण बातें जब उनका मुंह बन्द न कर पातीं तब भारत की सर्वश्रेष्ठता सिद्ध करने के लिये, जैसे मशीनगन से प्रमाणों की दस गोलियाँ ताबड़तोड़ दागकर, उन्हें निरुत्तर कर देने की चेष्टा करता, "प्रथम यह कि इस देश मे प्रत्येक स्थान पर अत्यधिक ज्ञान पाया जाता है, दूसरे स्थान के लोगों को हिन्दुस्तान के ज्ञान तथा कला का पता भी नहीं। द्वितीय यह कि हिन्दुस्तान वाले भाषाएं बड़ी कुशलता से बोल सकते है, किन्तु संसार के अन्य भाषा वाले हिन्दुस्तान की भाषा नही बोल सकते। तीसरा प्रमाण ऐसा है जिसे बुद्धि को स्वीकार करना ही पड़ेगा। वह इस प्रकार है कि प्रत्येक ओर से कलाकार विद्या तथा कला की खोज मे हिन्दुस्तान आते रहते है किन्तु हिन्दुस्तान से कोई ब्राह्मण किसी स्थानपर विद्या अध्ययन के लिये कभी नही गया। यह बात सभी को ज्ञात है कि अबू माशर जो कि ज्योतिषविद्या मे बडा ही दक्ष था भारतवर्ष मे दसवर्ष तक रहा और प्राचीन नगर बनारस में ज्योतिष का अध्ययन करता रहा। उसने जो कुछ भी लिखा है हिन्दुओं से सीखकर लिखा है। चौथा प्रमाण यह है कि हिन्दसे का ज्ञान संसार मे हिन्दुस्तानियों के अतिरिक्त और किसी को न था। शून्य का ज्ञान सर्वप्रथम हिन्दुओं को ही प्राप्त हुआ।....यूनानियों ने भी यह ज्ञान इन्हीं से प्राप्त किया। समस्त दार्शनिक इस प्रकार इस ब्राह्मण के शिष्य हैं, किन्तु वह किसी का चेला नहीं। पांचवां प्रमाण यह है कि बुद्धिमत्ता की पुस्तक कलीला व दिमना की रचना प्राचीन भारत में हुई। छठा प्रमाण यह है कि शतरंज के खेल का आविष्कार, जिसमे मनुष्य अपने कष्टों को भूल जाता है, भारतवर्ष मे ही हुआ। शतरंज का खेल भी हिन्दुस्तान के निवासियों से बढ़कर कोई भी नहीं खेल सकता।...आठवां प्रमाण यह है कि भारतवर्ष के संगीत की समानता संसार के किसी भाग से नहीं हो सकती। यहाँ का संगीत अग्नि के समान है जो हृदय तथा प्राणों में अग्नि भड़का देता है।...यहाँ का संगीत केवल मनुष्यों को ही नहीं वरं पशुओं

को भी उत्तेजित कर देता है।...दसवां प्रमाण यह है कि कविता द्वारा इस प्रकार का जादू करने वाला खुसरू हिन्दुस्तान का निवासी है।"

ये विचार प्रमाण के रूप में प्रस्तुत कोरे तर्क ही नहीं थे, बुद्धि तथा हृदय दोनों के योग के फल थे। उसने यह सब अनुभव किया था। वह अपने सधर्मियों को यह दिखाना चाहता था कि मुस्लिम आक्रमणकारियों ने अबतक अन्य जिन देशों पर आक्रमण किया और आधिपत्य जमाया, वे धार्मिक, राजनैतिक, सांस्कृतिक, दार्शनिक, कलात्मक, अन्य किसी भी प्रकार की विशेषताओं से विहीन थे अथवा निम्न स्तर पर थे। भारत इनसे अलग था। वह इन सब क्षेत्रों मे इनसे बहुत बढ़ा-चढ़ा था और इस विषय में उनकी इसके साथ तुलना नहीं की जा सकती थी। वह एक समय सबका गुरु रह चुका था। सबसे श्रेष्ठ था। अपने सधर्मियों की आंखें खोलने के लिये वह यहाँ के धार्मिक विचारों की विशेषताओं का दिग्दर्शन कराके उसकी श्रेष्ठता की छाप बैठाना चाहता था। उसने कहा, "वे भगवान को एक मानते हैं और उसपर विश्वास रखते हैं।" और इसके द्वारा यह सिद्ध करना चाहता था कि वे काफिर नही।

यह कहा जा सकता है कि उसकी कृतियों मे ऐसे भी स्थान हैं जिनमें आंख मूंदकर वह अपने धर्म को सर्वश्रेष्ठ दिखाता है उसी भाव से ग्रस्त होकर अरबी को सर्व प्रमुख-भाषा घोषित करता है तथा स्थान-स्थान पर काफिरो के रूप मे हिन्दुओं के विरुद्ध परम्परागत रूप से भाव व्यक्त करता है। इस सम्बन्ध मे हमे स्मरण रखना चाहिए कि अपने काव्य ग्रन्थों का प्रणयन वह अपने संरक्षकों के लिये करता रहा जो इन भावो से ग्रस्त थे। उससे अपने को वह मुक्त नहीं कर सकता था। फिर भी बात तो यह है कि इसके होते हुए भी उसकी उदारता और सहिष्णुता उसे वर्जित बिन्दु के पार ले जाती थी। उस युग की दृष्टि से यही बहुत बड़ी बात है और दिखाती है कि एक मुक्तात्मा की भांति परम्पराओं की शृंखलाओं को तोड़कर विचरण करने की उसमें बेचैनी थी जो उसके हार्दिक भावो को उनसे छुड़ाकर ऊपर ले आती थी।

प्रश्न यह उठ सकता है कि उसने ऐसा किया क्यों? क्या यह केवल उसके व्यक्तित्व की ही विशेषता थी? नहीं, वह दूरदर्शी था। वह अनुभव करता था कि उसके सधर्मियों मे व्याप्त श्रेष्ठता की भावना मिथ्या है। केवल विजय से अर्जित बल के आधार पर रखे गये धरातल पर टिकी है। इस भावना से उत्पन्न उनके मोह को वह भंग करना चाहता था। वह उनके मन में बैठाना चाहता था कि उन्हें यहीं रहना है। अच्छा है वे इस तथ्य को स्वीकार करें और अतीत के बन्धनों से मुक्त होकर वे चलें। इस देश को अपना देश अनुभव करे। इसी में उनकी और आनेवाली पीढ़ियों की भलाई है। इसी कारण उचित मार्ग निर्देश की दृष्टि से निर्विकल्प रूप से, अभिमान पूर्वक उसने घोषित किया, "हिन्दुस्तान मेरी जन्मभूमि है तथा हमारा देश है। देश प्रेम बहुत बड़ा धर्म है।"

वह लोगों को उसकी प्रतीति करना चाहता था कि विदेश मे आयी हुई धारा, विदेश की मिट्टी में अपना मूल स्थापित किये रखकर, यहाँ नहीं बढ़ सकती और न पनप ही

सकती है। उसे यहाँ की मुख्य धारा में अपने को विलीन करना पड़ेगा। उसकी दृष्टि में वह हिन्दी ही थी। इसीलिये वह कहकर ही नहीं रह गया। उसने हिन्दी में रचनाएं भी कीं।

यहाँ हमें अपने सामने एक बात साफ कर लेनी चाहिए। यदि हम खुसरू के व्यक्तित्व को केवल इसी प्रकाश में परखने की चेष्टा करेंगे तो वह गलत ही नहीं उसके साथ बड़ा भारी अन्याय होगा। वह मात्र अत्यन्त मेधावी कवि ही नहीं था, वह अपने किसी भी सधर्मी की तुलना में एक दूसरी ही और वह भी अनोखी धातु से गढ़ा गया था। यही कारण है जैसा कि संकेत किया जा चुका है वह दो भिन्न और विपरीत लोकों में रह सकता था। यह उसके व्यक्तित्व की विशेषता थी और उसके सामर्थ्य की परिचायक थी कि उनके बीच रहता हुआ भी दोनो के बीच सामंजस्य बनाये रख सकता था।

एक लोक तो था अधिकांशतः कामुक, अतिचारी, लोलुप, महत्वाकांक्षी, निर्मम और स्वार्थी सुल्तानों और समान्तों का, जिसमें कामिनी, कंचन और कीर्ति की कामना की ही प्रमुखता थी। दूसरा लोक था सरल, निष्कपट तथा साधारण जनों, अथवा आत्मनिवेदन करने वाले साधुओ, संतों और फकीरों, अथवा लक्ष्मी एव भवानी की आराधना से दूर, सरस्वती साधनारत सुधियों का। पहला था बल और हिंसा, अर्थ और लिप्सा, स्वार्थ और छल पर टिका पाखंड से परिपूर्ण संसार--

उज्ज्वल बरन, अधीनतन, एकचित्त दो ध्यान,
देखन मे तो साधु है, निपट पाप की खान।

इस संसार मे न जाने कितने सुल्तानों और सल्तनतों को बनते-बिगड़ते वह देख चुका था। उसे किसी दिन यदि किसी के चरणों पर शतशत मस्तक लोटते दिखाई पड़े, तो दूसरे दिन उसीका अभ्रंकष दर्पोन्नत मस्तक भूलुठित धूल धूसरित दिखाई पड़ा। इसका जीवन सहजता से विहीन, कृत्रिमता के तानों-बानों से बुना हुआ, अस्थिर था। इसका उत्स विदेशीपन मे था। इसके अपने आचार, अपने विचार, अपने भाव तथा अपनी भाषा थी। वह भाषा थी फारसी, जिसमे काव्य को जगमग करने वाले अलंकारों से सजाकर, अतिशयोक्तियों से संवार कर चमत्कारों की दीप्ति से भरकर, कौशलपूर्ण ढंग से प्रस्तुत करना पड़ता दूसरों के मनोरंजन के लिये, जिसमें प्रमुख रूप से युद्ध, मारधाड़, षडयंत्र, लूटपाट, अत्याचार, बलात्कार, अनायास रक्तपात और हिंसात्मक घटनाओं का ही वर्णन रहता, नहीं तो, अपने संरक्षकों की उनके प्रस्तुत अवगुणों से आंख मूंदकर, अप्रस्तुत गुणों का उनमे आरोप करके, प्रशस्ति और यशोगान करना पड़ता, जिनकी सत्ता की क्षणभंगुरता और अनिश्चितता का अनुभव उससे अधिक किसी अन्य ने नहीं किया था। स्वाभाविक रूप से ऐसे काव्य के प्रणयन से रह-रह कर वह ऊब उठता। क्योंकि उसके हृदय का योग उसमे नहीं हो सकता था। उसे तृप्ति नहीं मिल सकती थी।

वह उसके जादू से लोगों को मुग्ध कर सकता था, सूझ और चमत्कार से विस्मित कर सकता था और प्रशंसा प्राप्त कर सकता था, किन्तु वह धड़कन नहीं ले आ सकता था, जिसमें सब अपनी धड़कन सुन पाते अथवा जिससे निसृत भाव प्रवाह मे सब लोग

बह जाते, मग्न हो सकते अथवा उड़ सकते। किन्तु यह सब वह कर पाता जब वह अबोध, निश्छल और स्निग्ध मन बालकों के बीच अपने को घिरा पाता और उनको बहलाने के लिये, प्रसन्न करने के लिये सुनाता--

आंख चलावे, भौ मटकावे, नाच कूद के खेल दिखावे।
मन में आवे ले जाऊँ अन्दर, ऐ सखि साजन ? ना सखि बन्दर !
उछल कूद के वह जो आया, धरा ढँका वह सब कुछ खाया,
दौड़ झपट जा बैठा अन्दर, ऐ सखि साजन ? ना सखि बन्दर !

अथवा उनसे बूझने के लिये पहेलियां कहना--

एक थाल मोती से भरा सबके सिर औंधा धरा,
चारों ओर वह थाली फिरे, मोती उससे एक न गिरे।

इन पंक्तियों के अन्तराल से उसका एक विनोदी और प्रत्युत्पन्नमतिपूर्ण व्यक्तित्व झांकता दिखाई पड़ता, जिसका लक्ष्य था सबके बीच हसी और प्रसन्नता बिखेरना। इसी प्रकार जब वह सामान्य जन के बीच आता तो उनके धरातल पर अपने को स्थित करता, उनसे रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करता हुआ अनुभूतियों को सजीव रूप से शब्दों मे ढालता दिखाई पड़ता--

खुसरू रैन सुहाग की, जागी पी के संग,
तन मेरो मन पीउ को, दोउ भये एक रंग।
पंखा होकर मैं डुली, साथी तेरा चाव,
मुझ जलती जनमगई, तेरे लेखन बाव।

हम समझ सकते है कि इन क्षणों मे उसको कितनी शांति, कितना रस और कितनी तृप्ति मिलती रही होगी। क्योंकि यह सब स्वान्तः सुखाय होता !

इसी प्रकार जब अतीन्द्रिय और आध्यात्मिक लोक का समागम करता हुआ, तन्मयता के किन्हीं क्षणों में ख्वाजा निजामुद्दीन औलिया के दरबार मे मनुहार के भाव में वह निवेदन करता--

मोरा जोबना नवलेरा भयो है गुलाल,
कैसे घर बकस दीनी मोरी माल !
नजामदीन औलिया को कोई समझाये,
जौं-जौं मनाऊँ वह रूसा ही जाये। मोरा जोबना--
चूड़ियाँ फोड़ूं पलंग पर डारूँ
इस चोली को मैं दूंगी आग लगाये। कैसे घर--
सूनी सेज डरावन लागे।
बिरहा अगिन मोहे डस डस जाये। मोरा जोबना--

हम लक्ष्य कर सकते है कि इन पदो मे वह भारतीय पद्धति का अनुसरण करते हुए अपने को प्रेमिका और आराध्य को प्रिय के रूप में भावना करता है न कि फारसी पद्धति का अनुसरण करते हुए उसे माशूक के रूप में देखता है। हम आज इसका

अनुमान नहीं लगा सकते, कल्पना नहीं कर सकते कि इन पंक्तियों को गाकर उसे वह कौन-सा संतोष धन प्राप्त होता है, जिसे सुल्तानो द्वारा प्रदत्त जागीरें, उपाधियां अथवा अकूत धनराशि भी नहीं दे सकती थी। यह कोई बड़े रहस्य की बात भी नहीं। सीधी सी बात थी। उसका हृदय इसी दरबार मे रमता था। यहीं संसार की असारता, महाकाल की विभीषिका और नाश की काली छाया से, जिसे चारो ओर व्याप्त वह देखता था और जिसके अतल मे धंसता जाता वह अपने को पाता था, मुक्त दुर्लभ—आनन्द लोक की प्रतीति वह करता था। तभी तो, जिस सत के चरणों तले अनायास यह सुलभ होता था, उसके निधन पर उसका भी ससार लुट गया और चारों ओर से अन्धकार ही अन्धकार दिखाई पड़ने लगा—

गोरी सोवत सेज पर, मुख पर डारे केस,
चल खुसरू घर आपने, रैन भई चहुँदेश।

जबकि अपने संरक्षक बड़े से बड़े किसी सुल्तान की मृत्यु पर, जिसने उसे सम्मान के आकाश पर चढा लिया था, उसकी आखों की कोर भी नम न हो पायी थी।

यही कारण है कि आज उसकी फारसी की कृतियां पुस्तकालयों की आलमारियो की शोभा बढा रही है। वर्षो के उपरान्त उस काल के ऐतिहासिक तथ्यों का अनुसन्धान करने के लिये कदाचित कोई अध्येता उधर आ निकलता है, तब वे पोथियां किसी मानव कर का संस्पर्श प्राप्त करती है। विडम्बना तो यह है कि अधिकांशत: यह कार्य अनुवादो मे ही सम्पन्न हो जाता है। किन्तु हिन्दी की ये थोड़ी-सी रचनाएँ जन-साधारण की जिह्वा पर हैं। यही कारण है कि इतिहास के पन्नों पर जहाँ उसे एक साधरण सुल्तान या नरेश के बराबर स्थान भी नही मिल पाता, वही जनता के मानस लोक में उसने एक गाथा पुरुष का रूप धारण कर लिया है। प्रत्येक युग उसे संवारने के लिये कुछ टाकिया चलाता और चमकने के लिये तूलिका फिराता रहा है। इससे उसकी छवि निखरती रही है। आज भी इस रूप मे वह उनकी चर्चा का विषय बना हुआ है।

हिन्दी के प्रति उसके प्रेम, लगाव और महत्व ज्ञापन की बात मात्र कल्पना प्रसूत या किसी पूर्वाग्रह ग्रस्त की सृष्टि नही, जैसे इसी सन्देह के निवारण के लिये वह स्वय ही कह गयी है—

चुमन तूतिये हिन्दम अर रास्त पुर्सी,
जै मन हिन्दुई पुर्स ता नग्ज गोयम।

अर्थात् मैं हिन्दुस्तान की तूती हूँ, यदि वास्तव मे तुम मुझसे कुछ पूछना चाहते हो तो हिन्दी में पूछो जिससे कि मैं तुम्हें कुछ अनुपम बातें बता सकूं।

यह सोचने, समझने और अनुसन्धान करने का बात है कि अन्तत: वह भी कौन-सी बाते है जो उसकी दृष्टि में अनुपम है, जिन्हे वह अपनी फारसी में नहीं बता सका अथवा उसमें बताने में वह अपने को असमर्थ पाता था, किन्तु हिन्दी में पूछने पर बता सकता था। यह भी अनुभव करने की बात है कि यदि वह अपने को तूती घोषित करता है तो वह भी हिन्द का!!

इन शब्दों के द्वारा उसने अपने सधर्मियों के पथ-प्रदर्शन के निमित्त, एक आदिपथी की भांति, एक दुग्धोज्ज्वल सरणि का निर्माण किया था, जो इतिहास के छूँछे पन्नों में समाकर, खोकर ही नहीं रह गया, वरं व्योम-गंगा की भांति आज भी वह तमाच्छन्न आकाश के मध्य में झिलमिला रहा है, किसी आनेवाले युग की प्रतीक्षा में।

लोकधर्म में ब्रह्मा

जैनेन्द्र वात्स्यायन

हिन्दू धर्म में ब्रह्मा को सृष्टिकर्ता देवता अथवा जगत् के पिता के रूप में वर्णित किया गया है। त्रिमूर्ति की कल्पना मे विष्णु और शिव के साथ ब्रह्मा को भी ग्रहण किया गया है:

त्रिधा भिन्नोऽस्म्यहं ब्रह्मन् ब्रह्म-विष्णु-हराख्यया।
सर्गरक्षालयगुणैर्निर्गुणोऽहं न संशयः।। सौर पुराण २३।५३

वराह पुराण में भी त्रिमूर्ति के सन्दर्भ में ब्रह्मा की चर्चा आती है:

तावत् तस्यैव रुद्रस्य देहस्थं कमलासनम्।
नारायणं च हृदये त्रसरेणुसुसूक्ष्मकम्।
ज्वलद् भास्करवर्णाभं पश्यामि भवदेहतः।। ७१।२-३

किन्तु महाकाव्यों और पुराणों आदि के वर्णनों से प्रतीत होता है कि विष्णु और शिव तथा अन्य लौकिक देवताओं की तुलना मे ब्रह्मा को महत्त्वपूर्ण देवता नहीं माना जाता था तथापि कुछ ऐसे सकेत प्राप्त होते हं, जिनसे प्रतीत होता है कि महाकाव्यों से प्राचीन काल मे ब्रह्मा एक महत्त्वपूर्ण देवता रहे होंगे। कुछ के मत में ब्रह्मा कोई अवैदिक और वेदो से प्राचीन देवता हो सकते हैं। परन्तु यह मत ग्राह्य नहीं प्रतीत होता। आधुनिक विद्वानों ने वैदिक साहित्य मे ही ऐतिहासिक देवता ब्रह्मा की उपासना के बीज खोजने की चेष्टा की है।

ब्रह्मा का एक लोकप्रिय नाम प्रजापति भी था। इस कल्पना का विकास ऋग्वेद के अंतिम भागों तक हो चुका था। ब्रह्मा उत्तर वैदिककाल के सर्वोच्च देवता हैं। वास्तव मे प्रजापति की कल्पना मे ही ऐतिहासिक ब्रह्मा के सबसे अधि तात्त्व दिखाई पड़ते हैं। ऋग्वेद मे ही प्रजापति को सृष्टि करने वाला कहा गया है और उनके नाम का शाब्दिक अर्थ है —उत्पन्न हुए प्राणियों का पिता। महाकाव्यों और पुराणों की कथाओं में प्रायः सृष्टि के वर्णन मे इस प्रकार का उल्लेख मिलता है कि प्रारम्भ में एक सोने के अण्डे से ब्रह्मा की उत्पत्ति हुई है। इस दृष्टि से ऋग्वेद की हिरण्यगर्भ की कल्पना महत्त्वपूर्ण है। ऋग्वेद के दसवें मण्डल में एक बार हिरण्य गर्भ को प्रथम उत्पन्न तत्त्व माना गया है और उससे ही ब्रह्मा की उत्पत्ति बताई गयी है। इसी प्रकार महाभारत म ब्रह्मा के लोकगुरु, शोरगुरु अथवा इससे मिलते-जुलते नाम मिलते हैं स्वाभाविक है कि उनके इस पक्ष के विकास में ऋग्वेद के बृहस्पति अथवा ब्रह्मणस्पति की कल्पना का योगदान हो क्योंकि इन्हें ऋग्वेद में देवताओं के पुरोहित के रूप में देखा जाता था। ब्रह्मणस्पति के विषय में भी ऋग्वेद के दसवें मण्डल में ऐसा कथन मिलता है कि उन्होंने कर्मार की तरह विश्व का निर्माण किया। सर्वोच्च देवता के रूप में

ऋग्वेद में विश्वकर्मा की भी कल्पना मिलती है और हो सकता है कि इस कल्पना ने भी ब्रह्मा के विकास में कुछ योगदान दिया हो।

स्रष्टा के रूप में ब्रह्मा को बाद में प्रायः 'विश्वस्य कर्ता' कहा गया है। ब्रह्मा के नाम के आधार पर यह युक्तिपूर्ण अनुमान लगाया जाता है कि उपनिषदों की ब्रह्म की कल्पना ब्रह्मा से ही ग्रहण की गयी होगी। दोनों कल्पनाओं में इतना साम्य तो है ही कि दार्शनिक दृष्टि से कल्पित और प्रायः नपुंसक लिंग में प्रयुक्त उपनिषदों के ब्रह्म को तथा बाद के ऐतिहासिक ब्रह्मा को सृष्टि का आदि माना गया है। ब्रह्म के विषय में उत्तर वैदिक काल में 'ब्रह्म स्वयंभू' अपने आप उत्पन्न होने वाला ऐसी कल्पना भी मिलती है। महाकाव्यों और पुराणों में भी ब्रह्मा को 'स्वयंभू' कहा गया है :

स्वम्भुवं यं स्म वदन्ति सोऽभूत। भागवत् पुराण ३।८।१५

किन्तु यह अवधेय है कि उपनिषदों में ब्रह्म शब्द का व्यवहार एक तत्त्व के रूप में हुआ है; देहधारी देवता के रूप में नहीं। देवता ब्रह्मा की कल्पना हम उपनिषदों के सगुण ब्रह्म के साथ देखते हैं। किन्तु यह सम्भावना हो सकती है कि ब्रह्मा का नाम और उनकी कल्पना के कई तत्वों के आधार पर उपनिषद् का ब्रह्म तत्त्व विकसित हुआ हो। सम्भवतः विकसित रूप में देवता ब्रह्मा का प्रथम वर्णन मुण्डकोपनिषद् में आता है जिसमें उन्हें सर्वप्रथम पैदा और विश्व का कर्त्ता आदि कहा गया है.

ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव।
विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता॥१॥

सूत्र साहित्य में प्रजापति ब्रह्मा को सर्वोच्च देवता कहा गया है। मनुस्मृति में भी 'स्वयंभू' ब्रह्मा की कल्पना है जिन्हें 'हैमम् अण्डम्' अर्थात् सोने के अण्डे से उत्पन्न और 'सर्वलोकपितामहः' कहा गया है।

प्राचीन बौद्ध और जैन साहित्य में ब्रह्मा प्रायः सर्वोच्च देवता के रूप में आते हैं। किन्तु बुद्ध और महावीर की तुलना में तो अवश्य ही उन्हें निम्नकोटि में रखा गया है। प्रायः ब्रह्मा इन्द्र, बुद्ध और महावीर के प्रशंसक या सेवक के रूप में आते हैं, किन्तु इन ग्रन्थों में बुद्ध और महावीर की महत्ता दिखाने के लिए ही इन देवताओं को चुनना इनके महत्त्व को दिखाना नहीं कहा जा सकता है। प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों में ब्रह्मा की वशवर्ती ईश्वर, कर्त्ता, निर्माता आदि के रूप में कल्पना की गई है। इनके लिए कहीं-कहीं 'महाब्रह्मा' तथा 'ब्रह्मा सहंपति' का भी व्यवहार हुआ है। साथ ही साथ यह भी उल्लेखनीय है कि प्राचीन बौद्ध साहित्य कभी-कभी अनेक ब्रह्माओं की कल्पना करते हैं।

महाकाव्यों में विशेषकर महाभारत के अपेक्षाकृत प्राचीन स्थलों में, ब्रह्मा ही सर्वोच्च देवता हैं किन्तु इसी ग्रन्थ के अपेक्षाकृत परवर्ती भागों में ही शिव-विष्णु की तुलना में उनका स्थान गौण हो जाता है। महाभारत की जिन कथाओं में ब्रह्मा का सर्वोच्च स्थान दिखाई पड़ता है, उनमें उल्लेखनीय है—दानवों से अमृत प्राप्त करने की कथा। इसमें कई ऐसे स्थल मिलते हैं—जिनमें विष्णु ब्रह्मा की प्रशंसा करते हैं अथवा ऐसे वक्तव्य

देते हैं कि जिनसे ज्ञात होता है कि वे ब्रह्मा की आज्ञा और नियमानुसार कार्य करते हैं। महाभारत में ब्राह्मणों द्वारा जोड़ी गई कुछ बाद की कथाओं में भी ब्रह्मा का उच्च स्थान दिखायी पड़ता है। इस प्रकार की एक कथा शान्ति पर्व में है, जिसमें कहा गया है कि निरंतर सृष्टि होते रहने से संसार प्राणियों से भर गया तब क्रुद्ध होकर ब्रह्मा ने सामूहिक रूप से जीवों का सहार करना प्रारम्भ किया। अन्त में शिव की प्रार्थना से ही सामूहिक मृत्यु के स्थान पर उन्होंने वैयक्तिक मृत्यु का नियम बनाया। इसकी व्यवस्था के लिए उन्होंने अपने क्रोध से मृत्यु नामक एक स्त्री को पैदा किया। इस सन्दर्भ में ब्रह्मा को 'परमोदेव.' कहा गया है। शिव ब्रह्मा की स्तुति करते हैं और अपने को ब्रह्मा का आज्ञापालक मानते हैं। सम्भवतः इस कथा में ही ब्रह्मा के प्राचीनकाल की स्मृति शेष है। सामान्य रूप से महाभारत के विकास के साथ-साथ ही ब्रह्मा की महत्ता क्षीण होती गई है। महाभारत के अनेक स्थलों तथा नीलमत पुराण में भी ब्रह्मा को विष्णु और शिव की स्तुति करते हुए दिखाया गया है। नीलमत पुराण में इन्द्र ब्रह्मा से पूछते हैं कि आपसे बड़ा कौन देवता है ?

सर्वमेतत् त्वमेवैकः त्वत्तः किमपरं विभो।
यन्ततोऽसि महाभाग एतान् मे संशयो महान् ।। ४।१०८७

यहाँ ब्रह्मा यह कहते हैं कि शिव आदि देवता हैं और कारणों के भी कारण हैं :—

एष सर्वेश्वरः शक्र एषः कारणकारणम् ।
एष चाचिन्त्यमहिमा एष ब्रह्म सनातनम् ।।
स एष सर्वकर्त्ता च सर्वज्ञश्च महेश्वरः ।
यदिच्छया जगदिति वर्वति सचराचरम् ।। ४।१३४४-४५

ब्रह्मा को जगत्-पिता माना गया है तथापि उनकी उत्पत्ति विष्णु के नाभि से उत्पन्न कमल से बतायी गयी है और यह स्थिति ब्रह्मा की अवनत दशा को व्यक्त करती है। महाभारत में एक ब्रह्म महोत्सव का भी वर्णन है। हाफ़किन्स ने इसे ब्रह्मा की पूजा के रूप में होनेवाले किसी लौकिक उत्सव के रूप में स्वीकार किया है। डॉक्टर वासुदेव शरण अग्रवाल सम्भवतः इसी स्थान की ओर संकेत करते हुए इसका सम्बन्ध यक्ष पूजा से जोड़ते हैं। "महाभारत में यक्षमह के लिए ही ब्रह्ममह शब्द आया है। बक नामक राक्षस की मृत्यु के बाद ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र सब ने मिलकर एकचक्रा नगरी में ब्रह्ममह का आयोजन किया (ततस्ते ब्राह्मणाः सर्वे क्षत्रियाश्च सुविस्मिताः, वैश्याः शूद्राश्च मुदिताश्चक्रुर्ब्रह्ममहं तदा— आदि पर्व १५२।१८)। मत्स्यदेश में ब्रह्म का एक बड़ा भारी महोत्सव हुआ करता था, जिसमें उस जनपद के सब लोग तमाशा देखने एकत्र होते थे और उस अवसर पर बड़े-बड़े मल्लों की कुश्तियाँ होती थीं। राजा विराट् स्वयं इस उत्सव का प्रबन्ध करते थे :

अथ मासे चतुर्थे तु ब्रह्मण महोत्सवः ।
आसीत् समृद्धो मत्स्येषु पुरुषाणां सुसम्मतः ।। —विराट १२।१२

इसी श्लोक के आगे प्रक्षिप्त अंश में इस महोत्सव को ब्रह्म का समाज भी कहा गया है (समाजे ब्राह्मणो राजस्तथा पशुपतेरपि)। यह ब्रह्म महोत्सव 'यक्षमह या यक्ष का ही उत्सव था।'[1] किन्तु डॉ० अग्रवाल का यह मत ग्राह्य नहीं हो सकता, क्योंकि 'यक्षमह' का उल्लेख इस स्थल पर क्या बल्कि सम्पूर्ण महाभारत मे नहीं हुआ है। यह शुद्ध रूप से 'ब्रह्मा की पूजा' अर्थात् ब्रह्ममह से ही सम्बन्धित है।

पुराणों में ब्रह्मा की स्थिति नगण्य हो गयी है। भागवत पुराण में ब्रह्मा को विष्णु के अवतार श्रीकृष्ण की स्तुति करते हुए दिखाया गया है :

> दृष्ट्वा त्वरेण निजधोरणतोऽवतीर्य पृथ्व्यां वपुः कनकदण्डमिवाभिपात्य।
> स्पृष्ट्वा चतुर्मुकुटकोटिभिरङ्घ्रियुग्मं नत्वा मुदश्रुसुजलैरकृताभिषेकम्॥
> उत्थायोत्थाय कृष्णस्य चिरस्य पादयोः पतन्।
> आस्ते महित्वं प्राग्दृष्टं स्मृत्वा स्मृत्वा पुनः पुन.॥
> शनैरथोत्थाय विमृज्य लोचने मुकुन्दमुद्वीक्ष्य विनम्रकन्धरः।
> कृताञ्जलिः प्रश्रयवान् समाहितः सवेपथुर्गद्गदयैलतेलया॥[2]

---भगवान् को देखते ही ब्रह्मा अपने वाहन हंस पर से कूद पड़े और सोने के समान चमकते हुए अपने शरीर से पृथ्वी पर दण्ड की भाँति गिर पड़े। उन्होंने अपने चारों मुकुटों के अग्रभाग से भगवान् के चरणों का स्पर्श करके नमस्कार किया और आनन्द के आँसुओं की धारा से उन्हें नहला दिया। वे भगवान् श्रीकृष्ण की पहले देखी हुई महिमा का बार-बार स्मरण करते, उनके चरणो पर गिरते और उठ-उठकर फिर-फिर गिर पड़ते। इसी प्रकार बहुत देर तक वे भगवान् के चरणों में ही पड़े रहे। फिर धीरे-धीरे उठे और अपने नेत्रों के आँसू पोंछे। प्रेम और मुक्ति के एकमात्र उद्गम भगवान् को देखकर उनका सिर झुक गया। वे काँपने लगे। अञ्जलि बाँधकर बड़ी नम्रता और एकाग्रता के साथ गद्गद वाणी से वे भगवान् की स्तुति करने लगे।

इसी कथानक से सम्बन्धित एक चित्र गुजराती शैली मे १६ वीं शताब्दी में बनाया गया है। चित्र में ब्रह्मा के चार मुख दिखाए गए है। इसके निर्माता भालण है।[3] इसी पुराण में (३।८।१३-१५) ब्रह्मा को रजोगुण युक्त तथा विष्णु की नाभि कमल से उत्पन्न कहा गया है। इसी प्रकार का वर्णन वराह पुराण में भी आता है किन्तु वहाँ ब्रह्मा को शिव की नाभि कमल से उत्पन्न बताया गया है---तावात् तस्यैव रुद्रस्य देहस्थं कमलासनम् आदि (७१।२-३) पद्मपुराण में ब्रह्मा का पक्ष उपेक्षित-सा ही है---एकमूर्तिः त्रयो देवा ब्रह्मा विष्णु महेश्वराः। त्रयाणामन्तर नास्ति गुणभेदा प्रकीर्तिता॥
---भूमिखण्ड ७१।२०

वायुपुराण में त्रिदेवों के पारस्परिक सम्बन्ध की मनोरम गाथा मिलती है। इसके अनुसार प्रलयकाल में केवल एक देव विष्णु की ही सत्ता रहती है (वायुपुराण २४।१-३०)

---

१. प्राचीन भारतीय लोकधर्मः पृष्ठ, १२३ २. भागवत पुराणः १०।१३।६२-६४
३. दे० म० र० मजुमदारः ललितकला अकादमी सं० ८ अक्टूबर १९६० पृ० ५३।

नीलमत पुराण मे ब्रह्मा शिव को नमस्कार करते हुए वर्णित किए गए हैं और उनकी स्तुति करते हैं (४।१२४३-४५)। कुछ पुराणों मे वर्णन विष्णु और शिव के साथ मिलता है। लिंग उत्पत्ति की कथा में, जिसके विभिन्न रूप पुराणों में प्राप्त होते हैं, ब्रह्मा, शिव की श्रेष्ठता मानने से साफ इनकार कर देते हैं। और अन्त में स्वयं विष्णु शिव के वास्तविक स्वरूप तथा महत्ता का ज्ञान कराते हैं तब ब्रह्मा शान्त होते हैं (वायु-पुराण २।२४-३५)। अधिक से अधिक वे मनुष्य तथा विष्णु और शिव जैसे देवताओं के मध्यस्थ के रूप मे आते हैं उन्हे प्रायः असुरो से भयभीत दिखाया गया है तथा वे विष्णु अथवा शिव की शरण में जाते हैं। मधु और कैटभ दानवों से ब्रह्मा के डरने की और विष्णु की शरण में जाने की कथा मारकण्डेय पुराण मे है। किन्तु मत्स्य पुराण मे ब्रह्मा पार्वती को वरदान भी देते हुए दिखाए गए हैं—एवं भव त्वं भूयश्च भर्तृदेहार्द्ध-धारिणी। (१५७–१२)। साथ ही साथ यह भी उल्लेखनीय है कि जिस पद्मपुराण में ब्रह्मा का पक्ष उपेक्षित-सा रहा है उसी में ब्रह्मा को पुनः सर्वोच्च देवता के पद पर बैठाने की चेष्टा की गई है। इस पुराण में उनकी पूजा के नियम भी दिए गए हैं।

ब्रह्मा के पूजकों का कुछ संकेत गुप्तकालीन वराहमिहिर की बृहतसंहिता से प्राप्त किया जा सकता है। इसमे बताया गया है कि कौन-कौन लोग किस मूर्ति और पूजा के अधिकारी हैं। उसी मे कहा गया है कि वेदों मे निपुण ब्रह्मा की पूजा करते हैं। इससे तो यही अर्थ निकलता है कि उनकी पूजा विद्वत् वर्ग मे ही सीमित रही होगी। इसी ग्रन्थ में ब्रह्मा की मूर्तियो के बनाने के नियम भी दिए गए हैं—ब्रह्मा कमण्डलुकर-श्चतुर्मुखः पङ्कजासनस्थश्च[1]। अर्थात् ब्रह्मा की मूर्त्ति के एक हाथ में कमण्डलु धारण कराना चाहिए, चार मुख होना चाहिए और कमल पुष्प के आसन पर बिठाना चाहिए। साथ ही प्रतिमा की प्रतिष्ठा ब्राह्मण द्वारा होनी चाहिए।[2] विष्णुधर्मोत्तर पुराण और कई आधुनिक ग्रन्थों मे भी इसी प्रकार के नियम मिलते हैं। अतः यह अनुमान किया जा सकता है कि यद्यपि इनका अपना विशिष्ट सम्प्रदाय न रहा हो तब भी विष्णु और शिव जैसे लोकप्रिय देवताओं के साथ-साथ इनकी भी पूजा प्रचलित थी। पुराणों मे शिव की लिंगोद्भव मूर्ति की उत्पत्ति की कथा मे ऐसा उल्लेख मिलता है कि झूठ बोलने के कारण ब्रह्मा को शिव ने दण्ड दिया और ब्रह्मा का असत्य कथन यह था कि उनके पूजक नहीं हैं। इस कथा मे ब्रह्मा को उपहास की स्थिति में दिखाया गया है परन्तु इससे यह भी संकेत मिलता है कि उनकी भी थोड़ी बहुत पूजा होती थी।

ब्रह्मा की मूर्त्ति (ब्रह्मचारी के समान) कमण्डल, श्रुवा, मृगछाला, पुस्तकादि से तैयार की गई है। ब्रह्मचारी पचीस वर्ष की आयु तक यज्ञ करता है। मृगछाल धारण करता है तथा वेदाध्ययन मे संलग्न रहता है। उसकी समस्त वस्तुएँ ब्रह्मा के हाथों में दिख-लायी पड़ती हैं। ब्रह्मा का वाहन हंस है। सूर्य के समान सात हंसों के रथ पर ब्रह्मा प्रदर्शित किए गए हैं। ब्रह्मा की प्राचीनतम मूर्त्ति द्विभुजी और चतुर्मुखी प्राप्त हुई हैं

---

१. बृहतसंहिता, ५८।३९४।४१ २. वही, ६०।४०२।१९

जिनके चेहरे पर मूंछ तथा दाढ़ी दिखायी देती है। प्राचीन काल में ब्रह्मा की मूर्तियाँ गान्धार शैली में प्राप्त होती हैं। पांचाल नरेश प्रजामित्र के सिक्कों के एक भाग पर प्रजापति या ब्रह्मा की मूर्ति अंकित है, जिसमें एक और चार हाथ दिखायी देते हैं। मथुरा से प्राप्त कुषाणकालीन ब्रह्मा की मूर्तियाँ मिली हैं। एक मूर्ति में ब्रह्मा के दाढ़ी तो है, किन्तु वे एकमुखी बनाए गए हैं। इनमें सबसे पुरानी एक मूर्ति है (संख्या ३८२), जिसमें सामने की ओर जटाजूटधारी तीन मस्तक हैं। बीच का मस्तक शेष दोनों से बड़ा है। मूर्ति के ठीक पीछे पुरुष की मूर्त्ति है, जिसका कुल बदामा भाग गोल प्रभामण्डल से घिरा हुआ है। मूर्ति का सिर खण्डित है किन्तु ऐसा लगता है कि मूर्ति की दाहिनी भुजा अभयमुद्रा में है एव बायीं भुजा में अमृतघट जैसी कोई चीज है। मूर्ति के पार्श्व में फूलों से लदा हुआ अशोक का एक वृक्ष है। तीसरी मूर्ति मे (संख्या २१३४) तीन सिर हैं। तीनों सिरो मे दाढ़ी है। सिर पर जटाजूट हैं। ये उत्तर-दक्षिण की ओर मुड़ी हुई है और उनका केवल पार्श्व दर्शन ही हो पाता है। इसमे तोंद का प्रभाव है। चौथी मूर्ति खड़ी मुद्रा मे है (ई० १२)। मस्तक जटाओ से ढँका है। दक्षिण का मुख और पार्श्व के मस्तक टूट गए हैं किन्तु सम्मुख के मस्तक पर मुकुट है। पार्श्व की मूर्ति तुंदिल है। पांचवीं मूर्ति (संख्या २४८१) जो करीब चौथी शती की है ब्रह्मा की ही है। मूर्ति मे तीन सिर है। तीनो सिर जटाजूट से युक्त हैं और मध्य का मुख दाढ़ी युक्त है। पेट निकला हुआ है और भुजा केवल दो है, जिसमे दायीं भुजा अभयमुद्रा मे है और बायी कटिविन्यस्त मुद्रा मे किन्तु भग्न है। पार्श्व भाग प्रभामण्डल से युक्त है। छठवीं मूर्ति बड़ी है, जिसमे ब्रह्मा चतुर्मुख, चतुर्भुज कमलासन और स्रुच् और श्रुवा लिए हुए अंकित है। सिर जटाजूट से युक्त है। मुख पर दाढ़ी का अभाव है। यह मूर्त्ति प्रतिमालक्षण के नियम से बनायी हुई जान पड़ती है।[1] मत्स्यपुराण के अनुसार ब्रह्मा की मूर्ति के लक्षण निम्नलिखित हैं:—

ब्रह्मा कमण्डलुधरः कर्तव्यः सचतुर्मुखः।
हंसारूढः क्वचित्कार्यः क्वचिच्च कमलासनः॥
वर्णतः पद्मगर्भाभिश्चतुर्बाहुः शुभेक्षणः।
कमण्डलुं वामकरे स्रुचं हस्ते तु दक्षिणे॥
वामे दण्डधरं तद्वत् स्रुवं चापि प्रदर्शयेत्।
वामपार्श्वे ससावित्रीं दक्षिणे च सरस्वतीम्॥

——२६०।४०——४१-४४

यह मूर्ति मथुरा से बाहर सरस्वतीकुण्ड नामक स्थान पर पूजा मे थी। लगभग इसी समय की एक दूसरी मूर्ति चतुर्मुख ब्रह्मा और सरस्वती की है, जो एक ही पद्मासन पर बैठे हुए दिखाए गए हैं। इस मूर्ति मे ब्रह्मा का दायाँ पैर और सरस्वती का बायाँ पैर कमल पर आसीन है, जिनके मध्य में ही हंसों का जोड़ा आसीन है। ब्रह्मा की भुजा

१. मथुराकला : डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, पृष्ठ——४८-५०

में स्रुवा और पुस्तक हैं और सरस्वती की भुजा दर्पण से युक्त है।[1] एक अन्य मूर्ति मे ब्रह्मा, अर्धनारीश्वर, विष्णु और गजलक्ष्मी के साथ अंकित किए गए हैं। जैन कला में एक कमण्डलधारी ब्राह्मण के वेश में भी ब्रह्मा को चित्रित किया गया है।

परवर्ती काल की कला मे सिन्ध से लेकर बंगाल तक इस देवता की मूर्तियां मिली है। यद्यपि मूर्ति विज्ञान की दृष्टि से उनमें नए रूप नही के बराबर हैं। इनकी एक अत्यन्त महत्वपूर्ण मूर्ति आधुनिक पाकिस्तान में मीरपुखास के स्थान पर पूर्व मध्यकालीन पीतल या कांसे की ब्रह्मा की मूर्ति मिली है। ब्रह्मा के कुछ छिट-पुट मन्दिर भी मिले हैं। राजपूताने के वसंतगढ़ नामक स्थान मे सातवी-आठवी शताब्दी का ईंट का एक ब्रह्मा का मन्दिर मिला है। चन्देल नरेशों के समय का १०वीं-११वीं शताब्दी का मध्यदेश मे दुदाही का ब्रह्मा मन्दिर मिला हे। गुजरात-काठियावाड़ प्रदेश में खड़े हुए ब्रह्मा का मन्दिर है। इसके विषय मे एक रोचक सूचना यह मिली है कि इस मन्दिर के विशिष्ट पूजक शुक्ल यजुर्वेदीय ब्राह्मण हैं, जो अपने को औदिच्य ब्राह्मण मानते है। इसी प्रकार पूर्वी भारत मे भी एक-दो ब्रह्मा मन्दिरों के कुछ सकेत मिलते हैं। आधुनिक काल मे अजमेर के निकट पुष्कर नामक स्थान ब्रह्मा का महत्त्वपूर्ण तीर्थ स्थान माना जाता है। वहाँ ब्रह्मा का मन्दिर भी है, जो सौ वर्ष से अधिक पुराना नहीं है पर असम्भव नहीं कि प्राचीन काल मे भी यह स्थान ब्रह्मा की पूजा का स्थान रहा हो। कम से कम पवित्र क्षेत्र के रूप में पुष्कर का इतिहास शक राजा वृषक दत्त अर्थात् ईसवी सन् की प्रारम्भिक शताब्दी तक ले जाया जा सकता है।

दक्षिण भारत की ब्रह्मा प्रतिमा मे अधिकतर चार भुजाए है उनमे माला, पुस्तक, कमण्डल और चौथा हाथ वरद मुद्रा मे है। ब्रह्मा की पत्नियाँ सावित्री और सरस्वती भी कई एक मूर्तियों के पार्श्व भाग में उपस्थित हैं। भिलसा के समीप उदयगिरि गुहा मे निर्मित विष्णु की शयन-मूर्ति मे ब्रह्मा को गौण स्थान मिला है। दक्षिण भारत की लिंगोद्भव की शिव प्रतिमा मे ब्रह्मा ऊपरी भाग मे खुदे हैं। एलिफेण्टा द्वीप की गुहा मे शिव की कल्याण सुन्दर प्रतिमा का निर्माण कलात्मक ढंग से किया गया है, जिसमे पुरोहित के रूप मे ब्रह्मा अकित है। ब्रह्मा की प्राचीनतम मूर्तियों मे सरस्वती सह-धर्मिणी है। किन्तु कालान्तर में सरस्वती को विष्णु की भार्या कहा गया है। ब्रह्मा की पूजा की अलोकप्रियता के कारण पंचदेव मे उनकी गणना नहीं हुई है।

निष्कर्ष में ब्रह्मा का इतिहास देखने मे यह लगता है कि ये विशुद्ध ब्राह्मण परम्परा की देन हैं। परन्तु फिर भी ये एक लोकप्रिय देवता के रूप मे विकसित न हो सके और न इनको लेकर कोई सम्प्रदाय बना। अब यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि ब्रह्मा का लोकप्रिय देवता के रूप मे विकास क्यो नहीं हुआ? इसके कारण का अध्ययन और विश्लेषण एक गहरे अनुसन्धान की वस्तु है तथा उससे भारतीय मानस की विभिन्न मूल्य भावनाओं का समावेश प्रतीत होता है। चरित्र के प्रति भारतीय मानस बड़ा ही

---

१. मथुरा कला : डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, पृष्ठ-५०

सावधान है। और ब्रह्मा को लेकर उनके चरित्र की कुछ ऐसी घटनाओं का उल्लेख मिलता है, जो उनको एक लोकप्रिय देवता नहीं बनने देती जैसे मत्स्य पुराण में ब्रह्मा की पत्नी शतरूपा के लिए सावित्री, सरस्वती, गायत्री एवं ब्रह्माणी आदि नाम भी मिलते हैं। अपने पुत्रों को प्रजोत्पत्ति करने का आदेश देकर वह स्वयं अपनी पत्नी सावित्री के साथ रत हुए, जिससे स्वयंभुव मनु की उत्पत्ति हुई। शतरूपा या सावित्री इन्हीं के द्वारा ही पैदा की गयीं थीं अतः उनका एवं ब्रह्मा का सम्बन्ध पिता एवं पुत्री का हुआ। पर उन्होंने उन्हें अपनी धर्मपत्नी मानकर उसके साथ भोग किया। यह कथा वैदिक ग्रन्थों[1] में निर्दिष्ट प्रजापति के द्वारा अपनी कन्या उषा से किए गए दुहितृगमन-से मिलती-जुलती है। मत्स्य पुराण के अनुसार ब्रह्मा स्वयं वेदों के उद्गाता एवं वेद-राशि होने के कारण इस दुहितृगमन के पाप से परे हैं। चरित्र सम्बन्धी इस प्रकार के आरोप जो विद्वान् लगाते हैं वे ठीक नहीं हैं, क्योंकि यह कार्य सृष्टि के लिए किया गया था और साथ ही परगोत्र का अभाव था अत. स्वगोत्र का सहारा लेना पड़ा। वह एक थे और अनेक होना चाहते थे। ब्रह्मा तो शुद्ध रूप से वैदिक संस्कृति के देवता हैं। ब्रह्मा का उपेक्षित होना वैदिक संस्कृति के ह्रास का द्योतक है। इसे भारतीय संस्कृति के विकास की एक आकस्मिक घटना नहीं माना जा सकता है। इसके पृष्ठ में कुछ और ही दूसरा तत्त्व काम कर रहा है।

ब्रह्मा के अपूज्य होने से सम्बन्धित एक दूसरी घटना भी है। घटना इस प्रकार है—यज्ञ की दीक्षा लेकर ब्रह्मा यज्ञ प्रारम्भ करने ही वाले थे कि इन्हें ध्यान आया कि यज्ञकुण्ड के पास सावित्री उपस्थित नहीं है। बिना पत्नी के यज्ञ आरम्भ नहीं किया जा सकता है अतः इन्होंने सावित्री को बुलावा भेजा ; पर सावित्री को आने में देर हुई। इस देरी से ब्रह्मा चिढ़ गये और इन्द्र को आदेश दिया कि शीघ्र ही किसी स्त्री को इस कार्य की पूर्ति के लिए लाया जाय। इन्द्र एक ग्वाले की कन्या को ले आये और ब्रह्मा ने उसे गायत्री नाम देकर ग्रहण किया तथा यज्ञ पर उसे बैठा कर कार्य आरम्भ किया। कुछ समय बाद सावित्री आयी और उसने देखा कि यज्ञ करीब-करीब समाप्त हो चुका है। यह देखकर उसने ब्रह्मा पर कुपित होकर शाप दिया कि तुम अपूज्य बन कर रहोगे और तुम्हारी कोई पूजा नहीं करेगा। तो क्या यह शाप भी ब्रह्मा की अलोकप्रियता का कारण बना ? यदि नहीं तो फिर क्या ?

इसी संदर्भ में एक तीसरी कथा स्कन्दपुराण में मिलती है जो इस प्रकार है—ब्रह्मा और विष्णु में यह विवाद हुआ कि हम दोनों में कौन सर्वश्रेष्ठ है ? इस समस्या के समाधान के लिए दोनों देवता शिव के पास गये। वहां पर शिव ने दोनों देवताओं के सामने एक प्रस्ताव रखा कि जो व्यक्ति शिवलिंग के आदि व अंत को शोधकर सर्व-प्रथम उसकी सूचना देगा वही ज्येष्ठ बनने का अधिकारी होगा। ब्रह्मा ने ऊर्ध्वमार्ग से शोध करना आरम्भ किया किन्तु सफलता नहीं मिली। तब इन्होंने गौ एवं केतकी

१. ए. ए. मेकडोनेल : वैदिक माइथोलॉजी ; पृ० ११९

को अपना झूठा गवाह बनाकर शिव के समक्ष उपस्थित करते हुए कहा कि "मैंने शिवलिंग के आदि एवं अंत का शोध किया है जिसके प्रत्यक्ष गवाह हैं—गौ एवं केतकी।" यह सुनकर शिव ने ब्रह्मा को ज्येष्ठ पद प्रदान किया। किन्तु बाद में सही तथ्य मालूम होने पर शिव ने नारायण को ज्येष्ठ एवं इन्हें कनिष्ठ तथा अपूज्य बनाया। (१।१।६ ; १।३।२ ; १।९।१५ ; ३।१।१४)।

ब्रह्मा ब्राह्मण परम्परा के सर्वोत्कृष्ट देवताओं में से एक हैं और इस प्रकार वे ब्राह्मण परम्परा के प्रमुख आदर्शों का मूर्तमान रूप हैं। उनकी यह विशेष स्थिति और फिर उनका लोकप्रिय न होना आज के अध्येताओं को यह अवसर प्रदान करता है कि इस अनोखी घटना के माध्यम से ब्राह्मण मूल्य भावना के अन्तस्तल में प्रवेश करें। जहाँ तक मैं समझता हूँ वह यह है कि विद्या की देवी 'सरस्वती' ने 'वेदवेत्ता ब्रह्मा' के स्वरूप को आच्छन्न कर दिया। वराहमिहिर की 'बृहत् संहिता' जब यह कहती है कि वेदों के ज्ञाता ही ब्रह्मा की पूजा कर सकते हैं तो भक्तों के सामने एक प्रकार का बन्धन लग जाता है। अर्थात् ब्रह्मा के पूजक को वेद ज्ञान का होना आवश्यक था। यह बन्धन भी वैदिक कर्मकाण्डों की ही तरह का है। वैदिक यज्ञों को करने का अधिकार मात्र उच्च वर्ग को ही था। साथ ही ये इतने खर्चीले और पचड़े वाले थे कि निम्न वर्ग इन्हें सम्पन्न करने में अपने को असमर्थ पाता था। हो सकता है कि जब ब्रह्मा को उच्च वर्ग का देवता घोषित कर दिया तब निम्नवर्ग अर्थात् सामान्य वर्ग ने विद्या की देवी सरस्वती को ब्रह्मा के स्थान पर ग्रहण कर लिया और इस प्रकार ब्रह्मा के पूजकों का एक सीमित वर्ग हो गया। एक दूसरा प्रमुख कारण और है, वह यह है कि भक्ति-प्रवण वैष्णव और शैव धर्मों का उद्भव और विकास। कभी ब्रह्मा की उपासना उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में कन्याकुमारी तक प्रचलित थी किन्तु इन दोनों धर्मों की लोकप्रियता ने ब्रह्मा को पृष्ठभूमि में कर दिया।

काव्यबिम्ब की अन्तःप्रकृति

लक्ष्मीनारायण वर्मा

हालाँकि देश-विदेश के साहित्यिक जगत मे बिम्ब के प्रति मोहातिशय भंग हो गया है और बिम्बवाद का ज्वार शोषित होकर अब उतार पर है, फिर भी मेरे ख्याल से बिम्ब की अन्तःप्रकृति का यह अध्ययन गतकालिक विषय के साथ समयापव्यय न समझा जायेगा, क्योंकि बिम्ब काव्य का पर्याय भले न रहा हो, महत्वपूर्ण जीवन्त तत्व अब भी है, और क्योंकि किसी काव्यधारा की सूक्ष्म पड़ताल तभी सम्भव तथा सम्यक् होती है, जब रेला कुछ थम जाये, आन्दोलन कुछ थिरा जाये। फिर हिन्दी के सन्दर्भ में अभी भी ऐसे प्रयासों की उपयोगिता यथावत् बनी हुई है। कारण यह कि काव्यबिम्ब के स्वरूप को पूर्वाग्रह रहित होकर अपेक्षित गहराई, बारीकी और स्पष्टता के साथ उद्घाटित करने के प्रयास हमारे यहाँ कम ही हुए हैं। अस्तु, हिन्दी में बिम्ब की सही अन्तःप्रकृति को सतर्कता और खुले दिल-दिमाग से उद्घाटने की प्रासंगिकता और सार्थकता आज भी निःशेष नहीं हुई है।

काव्यबिम्ब की परम्परागत परिभाषायें—पाश्चात्य आलोचकों द्वारा काव्यबिम्ब की नानाविध व्याख्याए की गई हैं। परिणामतः आधुनिक समीक्षा में बिम्ब की परिभाषाओं की बाढ़-सी आ गई है। यहाँ केवल उन चुनी हुई तथा प्रायः उद्धृत की जानेवाली दृष्टियों को प्रस्तुत किया जा रहा है जो बिम्ब-सिद्धान्त, जैसा वह आज समझा जाता है, के अनुकूल होने के कारण काव्यबिम्ब के सही-सही स्वरूपोद्घाटन में सहायक हैं:

प्रथम वर्ग: १ "एक समय के इन्द्रिय ज्ञान के लेखे-जोखे को कविता में प्रस्तुत कर देना ही बिम्ब-विधान है।"[१]

२. "कविता में वह ऐन्द्रिय अपील जिसे हम विचारते रहे हैं, प्रचलनतः बिम्ब कही जाती है, बिम्ब जिसे किसी वस्तु का जो इन्द्रियों के सम्पर्क में न हो, मानसिक या कल्पित प्रतिरूप समझा जाता है।"[२]

द्वितीय वर्ग: १. "बिम्ब को वस्तु की भौतिक प्रतिलिपि नहीं, वरन् केवल एक ऐसे विचार के अन्तर्गत समझा जाना चाहिए जिसमें किसी प्रकार की ऐन्द्रिय विशेषता पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है।"[३]

२. "बिम्ब ऐन्द्रिय माध्यम के द्वारा आध्यात्मिक अथवा तार्किक सत्यों तक पहुंचने का एक मार्ग है।"[४]

तृतीय वर्ग: १. "काव्यबिम्ब एक संवेग या आवेग भरित शब्द-चित्र है।"[५]

---

१. द इमेजरी ऑव कीट्स एण्ड शेली, पृ० ३-४; २. इलिमेन्टस ऑव पॉइट्री, पृ० १९९ ;
३. क्रियेटिव इमेजिनेशन पृ० १२ ; ४. प्रोब्लेम ऑव आर्ट, पृ० १३२ ;
५. पोइटिक इमेज पृ० १९ ;

२. "काव्यबिम्ब शब्दार्थ के माध्यम से कल्पना द्वारा निर्मित एक ऐसी मानस छवि है जिसके मूल में भाव की प्रेरणा होती है।"[६]

परम्परागत परिभाषाओं की समीक्षा—उक्त परिभाषाओं का प्रथम वर्ग ऐन्द्रियता के आधार पर बिम्ब की व्याख्या करता है। इस दृष्टि से बिम्ब की बिम्बता उसकी ऐन्द्रियता में होती है। बात एक सीमा तक सही है। भाषा के दो रूप होते हैं: एक प्रतिरूपात्मक तथा दूसरा सांकेतिक।[७] भाषा की प्रतिरूपात्मकता का तात्पर्य ऐन्द्रियानुभूति की प्रतिरूपात्मकता से है। बिम्बात्मकता का भी यही आशय है। भौतिक अस्तित्वों का बोध हमें इन्द्रियों के माध्यम से मूर्त रूप में होता है। जब भाषा इस इन्द्रियगत मूर्त बोध की प्रतिरूपात्मक होती है अर्थात् जब वह मात्र अर्थ ग्रहण न कराकर वर्ण्य विषय को ऐन्द्रिय स्तर पर हमारे मानस में साकार करनेवाली होती है, तब उसे बिम्बात्मक कहा जाता है। निष्कर्षतः बिम्ब की बिम्बता ऐन्द्रियता में ही निहित होती है और इसीलिए बिम्ब की किसी परिभाषा में उसकी इस मूलभूत विशेषता का उल्लेख लाजिमी है। पर यहाँ यह प्रश्न उठता है कि सटीक और सम्यक् परिभाषा के लिए क्या इतना ही पर्याप्त है। उत्तर होगा, 'नहीं'। सामान्य भाषा-बिम्ब के लिए यह ठीक हो सकता है, किन्तु काव्यबिम्ब उससे कहीं अधिक है। यदि ऐसा न होता, तो बिम्बात्मक दैनिक बोलचाल, पत्र-पत्रिकाओं में छपनेवाले चित्रोपम विज्ञापन तथा समाचार पत्रों के चित्रात्मक संवाद भी काव्य बन जाते और उनके प्रणेता कवि ऐन्द्रियता व्यावहारिक भाषा-बिम्ब का एक मात्र तत्व हो सकती है, काव्यबिम्ब का नहीं।

अब एक दूसरा प्रश्न उठता है: वह क्या चीज है जो सामान्य बिम्ब को काव्यबिम्ब में परिणत कर देती है? इसके उत्तर के लिए हमें आगे की परिभाषाओं पर गौर करना होगा। दूसरे वर्ग की परिभाषाएं बिम्ब से ऐन्द्रियता के साथ-साथ विचार और भाव का भी सम्बन्ध स्थापित करती हैं। बिम्ब अपना साध्य आप नहीं होता। उसका ध्येय होता है अर्थ यानी अपने पीछे के भावों और विचारों को स्पष्टता से उपस्थित करना। अतएव परिभाषा में बिम्ब के इस लक्ष्य की ओर संकेत रहे, यह उचित ही है। किन्तु यहाँ यह भी स्मरणीय है कि कोई न कोई अर्थ या भाव और विचार तो व्यावहारिक भाषा में भी होता है, तब इस हिसाब से सामान्य बिम्बों को भी काव्यबिम्ब माना जाना चाहिए। लेकिन ऐसा किया नहीं जाता। इससे यह निष्कर्ष व्यक्त करने में कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि इस दूसरे वर्ग की परिभाषाएं भी बिम्ब की सम्पूर्णता का प्रतिनिधित्व करने में असमर्थ हैं। अंतिम वर्ग की परिभाषाओं में अदृश्य काव्यबिम्ब के मूलाधार को थोड़ा सावधानी से कहने का प्रयास किया गया है। इनके अनुसार संवेग भरित या भाव अनुप्राणित होने का तथ्य वह मूल तत्व है जो सामान्य बिम्ब को काव्यबिम्ब की कोटि तक उठा देता है। अभिप्राय यह कि कोई भी बिम्ब काव्यबिम्ब इसलिए होता है कि वह मानवीय संवेगों या भावों से पूरित और अनुप्राणित होता है।

---

६. काव्यबिम्ब पृ० ५; ७. शुक्ल-जायसी ग्रंथावली, मू० पृ० ११३;

बहुधा यह बात काव्यबिम्ब की अन्तिम व्याख्या के रूप में प्रस्तुत की जाती है। किन्तु मेरे ख्याल में यह भी काव्यबिम्ब का अतिसरलीकरण और स्थूल सन्निकटन मात्र ही है, क्योंकि इसमें कथित यह तथ्य कि बिम्ब भावों से भरित या अनुप्राणित होता है, न तो स्पष्ट है और न सच्चाई के शत-प्रतिशत निकट ही है। ऐसी स्थिति में व्यवहार में हम भले ही ऐसी अस्पष्ट और अधूरी बात कहकर जी बहला लें, सूक्ष्म और अन्तिम वैज्ञानिक विश्लेषण में इससे सन्तुष्ट नहीं हो सकते। यह बात साफ समझ लेनी चाहिए कि कोई ऐन्द्रिय शब्द-चित्र मात्र मानवीय संवेगों या भावों से पूरित और अनुप्राणित होने के कारण ही काव्यबिम्ब नहीं होता, वरन् इसलिए होता है कि वह काव्यात्मक आवेग के साथ मानव की जीवन्त अनुभूतियों एवम् सक्रिय विचारों को अपने में समाहित किये रहता है। यह बात ज्यों-ज्यों विवेचन अग्रसर होगा, स्वतः अधिकाधिक स्पष्ट होती जायेगी। अतः यहाँ इस बारे में और अधिक न कहकर इस तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित करना ही अभीष्ट है कि लीविस की उक्त परिभाषा जो हमारे यहाँ बिम्ब की व्याख्या का निन्यानबे प्रतिशत आधार है, उनकी पूर्ण और अन्तिम परिभाषा नहीं है। कारण कि यह स्वीकारात्मक रूप में नहीं, प्रश्नवाचकात्मक रूप में दी गई है और थोड़ी व्याख्या के उपरान्त उसे पुनः काफी बदले हुए रूप में उपस्थित किया गया है। इससे स्पष्ट है कि उनकी उक्त परिभाषा सही परिभाषा के अन्वेषण के लिए की जानेवाली उनकी यात्रा का एक पड़ाव मात्र है, अन्तिम नहीं। किन्तु दुर्भाग्य का विषय है कि हिन्दी के समीक्षा साहित्य में बहुधा उसे ही उद्धृत किया जाता है। उनकी अन्तिम परिभाषा जो पूर्णता के काफी निकट है, यों है :

"काव्यबिम्ब न्यूनाधिक रूप से शब्दों में आबद्ध एक ऐसा ऐन्द्रिय चित्र है जो कुछ अंशो में रूपकात्मक और अपने में किसी मानवीय संवेग से अन्तर्ध्वनित होता है, पर साथ ही एक विशिष्ट काव्यात्मक संवेग या आवेग से आवेशित ही नहीं होता, पाठक को उससे आपूरित भी कर देता है।"[८]

दुर्भाग्य की बात है कि हमारे यहाँ इस परिभाषा की अहमियत, उसके अन्तर्तत्त्व पर समुचित ध्यान नहीं दिया गया। इस परिभाषा को तो नजरन्दाज किया ही गया, ताज्जुब है, हमारे समीक्षकों की दृष्टि इससे पूर्व के उन पूरे तीन पृष्ठों पर भी नहीं पड़ी जिनमें उन्होंने बड़े परिश्रम से काव्यबिम्ब के मूलाधार काव्यात्मक संवेग या आवेग तथा बिम्ब से उसके सम्बन्ध का विश्लेषण किया है। इस उपेक्षा का परिणाम यह हुआ कि हम न केवल लीविस की पहले वाली अपूर्ण और अर्द्ध विकसित परिभाषा के आधार पर बिम्ब की भाव पर आधारित गलत परिभाषा करने लगे है, वरन् यांत्रिक ढंग से उसकी सतही भाववादी व्याख्या भी करने लगे हैं। इस अन्तिम बात के लिए एक सीमा तक हमारी संकुचित रसवादी दृष्टि भी उत्तरदायी है।

बिम्ब के प्रति गलत भाववादी दृष्टि और उसकी आलोचना—रसवाद के अनुसार

---

८. पोइटिक इमेज, पृ० २२ ; ८. आधुनिक हिन्दी कविता में बिम्ब-विधान, पृ० २५-२६ ;

काव्य की मूलात्मा भाव है। व्यापक संदर्भ में इस बात में काफी सार है जिसे अरस-वादी भी स्वीकारेंगे। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि भाव को संकुचित रूप में लिया जाय और उसे बिम्ब के साथ यांत्रिक ढंग से जोड़ दिया जाय। एक व्यापक परिप्रेक्ष्य में भाव काव्य की मौलिक प्रेरणा है, इसमें सन्देह नहीं। परन्तु स्वयं भाव कविता नहीं होता। भाव का अर्थ है प्रेम, दया, क्रोध आदि भाव या दु:खात्मक-सुखात्मक अनुभूतियाँ, मात्र जिनका वर्णन काव्य नहीं होता। पर बिम्ब के सन्दर्भ म अनेक बार काव्य का यही स्थूल अर्थ ग्रहण कर लिया जाता है और काव्य बिम्ब को भावों को ऐन्द्रिय रूप में प्रस्तुत करनेवाले माध्यम के रूप में देखने का प्रयास किया जाता है। यह सरासर अतर्कसंगत और अनुचित है। हमें यह बात अच्छी तरह दिल में बैठा लेनी चाहिए कि कोई बिम्ब काव्य बिम्ब इसलिए नहीं होता कि वह भावों को वर्ण्य बनाता है, वरन् इसलिए कि वह काव्यात्मक आवेग का वाहक होता है।

काव्य बिम्ब को थोड़ा परिवर्तित और सुधरे हुए रूप में वह शब्द-चित्र जिसके मूल में भाव की प्रेरणा रहती है, कहकर परिभाषित करना भी मेरे ख्याल से समस्या को जड़ तक नहीं सुलझाता। क्योंकि क्या इस आधार पर हम किसी क्रुद्ध व्यक्ति द्वारा अपने विपक्षी पर की गई बिम्बात्मक गाली-गलौज की बौछार को या किसी के अपने प्रियजन के दुर्घटना-ग्रस्त होने के दु:खभरे चित्रात्मक प्रस्तुतीकरण को काव्यबिम्ब मानेंगे? निश्चय ही नहीं। तब फिर ऐसी परिभाषाओं का क्या औचित्य? असल में इस प्रकार के प्रयास लीविस की प्रथम परिभाषा के अधूरेपन तथा तत्पश्चात् उनके द्वारा उद्धृत कालरिज के निम्नांकित वक्तव्य की गहराई को ठीक से न समझने का परिणाम है:

"बिम्ब, चाहे वे कितने ही सुन्दर हों, अपने आप कवि को चरितार्थित नहीं करते। वे वहाँ तक ही मौलिक प्रतिभा के प्रमाण होते हैं, जहाँ तक वे शक्तिशाली आवेग या उस आवेग द्वारा जाग्रत सम्बन्धित विचारों या बिम्बों से वेष्टित हों।"

इन शब्दों का वह अर्थ नहीं है जो अक्सर ऊपरी तौर पर समझ लिया जाता है। लीविस ने इसके मूलार्थ को स्पष्ट करते हुए जो कुछ कहा है, वह बिम्ब की सतही भाववादी व्याख्या करने वालों के लिये आँखें खोलने वाला है।

दुर्भाग्य की बात है कि हमारे यहाँ बिम्ब के विवेचन में वह सावधानी नहीं बरती जाती जिसका आग्रह और पालन लीविस ने किया है। 'काव्यात्मक संवेग या आवेग' वाक्यांश का, जिसका लीविस की परिभाषा में बहुत महत्व है, आशय उनके लिए, जहाँ तक मैं समझा हूँ, विषय-वस्तु के प्रति उस जोश या उद्वेलन से है जो उसकी अभिव्यक्ति को रूपकात्मक तथा औपम्यमूलक रूप देकर उसे आनन्दात्मक संतृप्ति बना देता है। रूपकों और उपमाओं की भाषा सुखानुभूतिक क्यों कर होती है, इस पर उन्होंने काफी विस्तार से विचार किया है। उनके विश्लेषण का सार कुछ यों है: काव्य की बिम्बात्मक रूपाकृति (पैटर्न) विश्व की विभिन्न सत्ताओं में अन्तर्निहित आभ्यान्तरिक सामंजस्य एवम अनन्तता को उसकी समग्रता में, थोड़ा-थोड़ा करके ही सही, अन्वेषित करने की मानवीय उत्कण्ठा और व्यवस्था एवम् परिपूर्णता की मानवीय आकांक्षा को तुष्ट करने के कारण

आनन्दात्मक होती है। इस प्रकार काव्यात्मक आवेग और मानवीय संवेग में, लीविस की व्याख्यानुसार, मौलिक दृष्टिभेद है। दृष्टान्त के स्तर पर हम इस भेद को किसी नारी की उन अलग-अलग प्रतिक्रियाओं की परस्पर तुलना करके सरलता से समझ सकते हैं जो एक अवसर पर 'पदमावत' के पदमावती नखसिखवर्णन या रत्नसेन-विरह-वर्णन और दूसरे अवसर पर अपने प्रेमी द्वारा प्रेमपत्रित अपनी रूप-प्रशंसा या उसके विरह-निवेदन को पढ़कर उसके मन में होगी। प्रथमावस्था की प्रत्येक स्थिति में मन एक विशिष्ट सुखकर उद्वेलन से भर जाता है जो अन्यथा नहीं होता। यही सुखकर उद्वेलन जो कल्पना के स्तर पर निर्वैयक्तीकृत स्थिति की लब्धि है, काव्यात्मक आवेग है। काव्य-बिम्ब इससे भरित ही नहीं होता, पाठक को इससे भारित भी कर देता है।

काव्यात्मक आवेग की यह व्याख्या सम्भवतः रसवाद की रूमानी समझवालों को, जो बिम्ब को भी उसी चश्मे से देखने के आदी हैं, अत्यन्त प्रीतिकर और उत्साहवर्धक लग रही होगी। यह ठीक है कि इसका कुछ साम्य रस से है, किन्तु इससे यह मतलब तो नहीं गठता कि इस आधार पर उसे नवरसी-रूमानी कैद में डाल दिया जाय। हालाँकि दसियों बार इस संकुचित और स्थैतिक दृष्टि का दोष-दर्शन कराया जा चुका है, पर व्यवहार में यह स्वच्छन्दतावादी-छायावादी प्रवृत्ति के रूप में आज भी हावी है। इस संकुचित नवरसी-रूमानी दृष्टि का दोष यह है कि काव्य में बुद्धि-तत्त्व को अछूत मानकर नकारा जाने लगता है। दुष्फलतः अनेक अच्छे बिम्ब बौद्धिकता के आरोप के साथ बिरादरी से बाहर कर दिये जाते हैं। मेरा इससे मतभेद है। बिम्ब मात्र भावात्मकता से ही नहीं, बौद्धिक चेतना से भी संस्पर्शित होता है। इस सन्तुलन को बनाए रखने के लिए ही कई ने काव्यबिम्ब के परिपक्व वैचारिक आधार का आग्रह किया है।[९]

बहुधा काव्य की अति भावात्मक व्याख्या की जाती है और बौद्धिकता को विज्ञान की वस्तु मानकर उससे परे रखने की हरचन्द कोशिश की जाती है। किन्तु मेरी समझ में ऐसा करने का कोई समुचित आधार नहीं है। बुद्धि मानवता की श्रेष्ठतम-अनन्यत उपलब्धि है। उससे कविता को वंचित रखना न उचित ही है और न सम्भव ही। विज्ञान और काव्य में इतना बौद्धिकता और भावात्मकता का अन्तर नहीं है, जैसा बहुधा ख्याल किया जाता है, जितना वस्तुनिष्ठता और व्यक्तिनिष्ठता का है और साहित्य की व्यष्टिता, वस्तुता से कोई बिलकुल कटी हुई चीज नहीं होती। विज्ञान मनुष्य की शुद्ध बौद्धिकता का प्रतिफल होने से एकांगी हो सकता है, परन्तु काव्य की प्रकृति एक पक्षीय नहीं, समन्वयकारी होती है। हम चाहे उसे आत्मान्वेषण कहें या समाज का दर्पण, हमें यह स्वीकारना होगा कि यह एकांगी दृष्टि नहीं है। वह सत्य को देखने की समग्र दृष्टि है, हमारे अन्दर और बाहर का पूरा चित्र है। हमारी समग्र मानसिकता जिसके अनेकानेक स्तर और आयाम हैं उसमें बिम्बित होती है। उसमें सामूहिक अचेतन की आदिम अतार्किक प्रतीतियाँ, वैयक्तिक चेतन की विकसित

---

९. तीसरा सप्तक पृ० १४८;

सतर्क प्रज्ञा, ऐन्द्रियता, भावन, चिन्तन, आस्था, तर्क, नैतिकता, धार्मिकता, दार्शनिकता, वैज्ञानिकता, क्या नहीं होता ?

चौंकिये नहीं, कोई नहीं कहता कि काव्य मे वैज्ञानिकता का यह अर्थ है कि उसमें आइन्स्टीन के गणतीय समीकरणो या मार्क्स की भौतिकवादी व्याख्याओं को अविकल अनूदित करके उसे बौद्धिक व्यायाम बनाया जाय, किन्तु आइन्स्टीन की दिक्काल की सापेक्षिक समझ और मार्क्स के द्वन्द्वात्मक-भौतिकवादी-ऐतिहासिक बोध से जो जीवन दृष्टि बनती है, जीवन मूल्यों मे जो क्रान्ति हो रही है, उसे काव्य में स्थान मिलना ही चाहिए, मिलता भी है। गिरिजाकुमार माथुर की पृथ्वीकल्प की कास्मिक चेतना तथा 'देह की दूरियाँ' की काल विभा की अस्पर्शित अनुभूतियाँ या नागार्जुन, मुक्तिबोध, शमशेर, भारत-भूषण अग्रवाल, त्रिलोचन प्रभृति कवियों की अनेकानेक कविताओं की समष्टिगत वस्तुपरक अन्तर्दृष्टि में यह वैज्ञानिक दृष्टि साफ झलकती भी है। आधुनिकता बोध, युगबोध और सबसे ऊपर सम्पूर्ण काल-बोध का यदि कुछ सार्थक अर्थ हो सकता है, तो वह यह वैज्ञानिक दृष्टि-बोध ही है जिसके सम्बन्ध मे कुवर नारायण का दावा यहाँ तक है :

"वैज्ञानिक दृष्टिकोण अनिवार्यतः नीरस दृष्टिकोण है, इसे मै मानने के लिए तैयार नहीं। ठीक से समझा जाय तो कविता में भी मूलतः कृतित्व की कुछ वैसी ही प्रक्रियायें निहित हैं जैसी वैज्ञानिक प्रयोगो में। जो बुनियादी जिज्ञासा एक वैज्ञानिक को रूढ़ि की उपेक्षा करके भी, यथार्थ की गूढ तहों मे पैठने के लिए बाध्य करती है, खोज की वही रोमांचकारी प्रवृत्ति कवि को भी अज्ञात के विराट व्यक्तित्व मे भटकाती रहती है।"[९]

काव्य मे बौद्धिकता से चिढ़ने वाले और नवरसी-रूमानी भाव के हामी अपने उत्साहातिरेक मे यह भी भूल जाते हैं कि मनुष्य की कभी न सन्तुष्ट होनेवाली बौद्धिकता, उसकी बौद्धिक बेचैनी भी तो मूलतः एक काव्योचित ललक है जो उतनी आरम्भिक तो नहीं, जितनी निद्रा-भय-मैथुनाहार की आदिम पशु लिप्सायें हैं। किन्तु मानवीय मौलिकता इसी में है, क्योंकि जिजीविषा का यही वह रूप है जो असंख्य जीवों से भरे इस संसार मे मात्र मानव का भाग है। यही वह चीज है जो उसे और उसके भाव-बोध को निखारती आई है। अज्ञेय ने ठीक ही कहा है, "जैसे-जैसे हमारी बौद्धिक सहानुभूति गहरी होगी, अभिव्यक्ति में व्यंजना आती जायगी, वह सीधा संवेदन कम होता जायगा जो किशोर कविता में होता है। जहाँ तक लेखक का सम्बन्ध है, ईमानदारी का मतलब यही है कि वह उस बौद्धिक विकलता को लेकर जिये और उसे अस्वीकार न करे जो ज्ञान उसे दे जाता है और जो उसकी अनुभूति को सुधार जाती है।"[१०]

कुछ लोग दबाव में आकर काव्य मे बुद्धि-तत्व की आवश्यकता तो स्वीकारते हैं, किन्तु उसे निहायत गौण स्थान देकर रचना-चातुर्य का पर्याय बना देना चाहते हैं। मेरा उनसे भी मतभेद है। मेरे ख्याल से बुद्धि-तत्व काव्य में इससे ऊंची भूमिका का हकदार है। काव्य को एक व्यापक और दीर्घकालिक सार्थकता, महती सोद्देश्यता, बौद्धिकता

---

९. तीसरा सप्तक, पृ० १४८ ; १०. प्रतीक, नवम्बर १९५१ का सम्पादकीय।

से ही मिलती है। अतएव मेरा निष्कर्ष है कि बुद्धि-तत्त्व काव्य का और इसीलिए बिम्ब का अविछिन्न तत्त्व है। युगानुसार उसका स्तर नीचा-ऊंचा हो सकता है, उसके रूप में भिन्नता हो सकती है, पर उसके बिना यह काफिला एक कदम भी आगे नहीं चल सकता। अस्तु, बिम्ब की कोई परिभाषा उस समय तक अपूर्ण ही रहेगी, जब तक उसमें इसका स्पष्टोल्लेख नहीं किया जाता।

काव्यबिम्ब : पुनः पारिभाषित—अब तक बिम्ब को घटकों में विभक्त करने का काम पूरा हो चुका है, केवल उनका परिगणन और सुनिश्चयन ही शेष है जो निम्न प्रकार है :

१. **ऐन्द्रियता तथा शाब्दिक समूर्त्तन**—हमें भौतिक सत्ताओं की प्रतीति इन्द्रियों द्वारा बिम्ब रूप में होती है। काव्यबिम्ब मूलतः इसी प्रतीति का शाब्दिक प्रतिरूप है। चूँकि बिम्ब में शब्द संकेतों के माध्यम से मूर्त ऐन्द्रिय-संवेदन को मानस-पट पर पुनः उद्बुद्ध किया जाता है, अतः शब्द स्वयं बिम्ब न होकर मात्र मानस प्रतिमाओं के उद्-बोधक होते हैं। परन्तु बिम्बों से अपने अनुषग के कारण खुद भी बिम्ब कहलाने लगते हैं। यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि जब शब्द सकेत मात्र हैं, तो क्या भौतिक सत्ता-वाचक प्रत्येक शब्द या वस्तु-वर्णन बिम्बोत्पादक हो सकता है? उत्तर है 'नहीं'। आरम्भ में शायद प्रत्येक शब्द बिम्बात्मक रहा होगा, किन्तु उनके लगातार बहु प्रयोग से उनकी बिम्बात्मकता घिसती चली गयी। अतएव अब अधिकतर व्यावहारिक शब्द मात्र अर्थ ग्रहण कराते हैं, मानस में सूच्य वस्तुओं का चित्र प्रस्तुत नहीं करते या करते हैं, तो बहुत क्षीण-सा। कवि की समस्या ही यह होती है कि वह घिस गये इन सिक्कों को किस तरह चमकाये, बिम्बहीन शब्दों को किस प्रकार बिम्बात्मक बनाये।

२. **संवेगात्मकता और बौद्धिकता**—काव्यबिम्ब का लक्ष्य मात्र ऐन्द्रियन नहीं होता। भले ही वे ऐन्द्रिय रूप में उपस्थित हों, पर अन्ततः वे भावों और विचारों के ही प्रति-निधानात्मक होते हैं। डा० केदारनाथ सिंह के अनुसार "एक सफल बिम्बात्मक कविता में जो प्रत्यक्ष दिखाई देता है, उससे कहीं अधिक महत्वपूर्ण वह अमूर्त्तझलक होती है जो एक ज्योति-रेखा की तरह क्षणभर के लिए चेतना के धरातल पर खिंचकर तत्काल विलीन हो जाती है।"[११]

अब थोड़ी चर्चा इस शीर्षक की द्वैधता के सम्बन्ध में। भावों और विचारों को साथ-साथ रखने का कारण यह है कि ये दोनों परस्पर अन्तर्बद्ध और सापेक्ष हैं। अतः मात्र प्रथम का उल्लेख तथ्यगत नहीं होता। आचार्य शुक्ल जैसे रसवादी समीक्षक ने भी काव्य में ज्ञान यानी विचार के महत्व को स्वीकार किया है, "नाना भावों के आलम्बन आरम्भ में ज्ञानेन्द्रियाँ उपस्थित करती हैं, फिर ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त सामग्री से प्रतिभा या कल्पना उनका भिन्न-भिन्न रूपों में समन्वय करती है। अतः यह कहा जा सकता है कि ज्ञान ही भावों के संचार के लिए मार्ग खोलता है। ज्ञान प्रसार के भीतर से ही

---

११. आधुनिक हिन्दी कविता में बिम्बविधान, पृ० २१

भाव प्रसार होता है।"[१२] किन्तु भाव और विचार के इस अन्तस्सम्बन्ध को भुलाकर बहुधा काव्यबिम्ब के सन्दर्भ मे मात्र भाव या भावानुभूति की अनिवार्यता ही प्रतिपादित की जाती है और इसके अभाव मे बिम्ब अकाव्यात्मक हो जाते हैं, यह दिखाने के लिए कभी कभी असंगत उदाहरण प्रस्तुत किये जाते हैं, जैसे बिहारी का यह बिम्ब—

इत आवत चलि जात उत, चली छ सातक हाथ।
चढ़ी हिंडोरैं से रहैं, लगी उसासुन साथ।

यह भावहीन बिम्ब कहकर आलोचित हुआ है। पर मेरे ख्याल से इसमें विचार शून्यता की स्थिति कही अधिक है। फलस्वरूप भावानुभूति पर थोथी ऊहा को हावी होने का अवसर मिल गया है। बौद्धिकता को थोथी सूझ या बाजीगरी का पर्याय मानकर उसको काव्य में विरोधना अनुचित है। बौद्धिकता जमीन आसमान के कुलाबे मिलाने में नही, तथ्यो के अन्तः प्रवेश मे, सच्चाई के अन्दर पैठने मे होती है। बिम्बो में औचित्य का गुण जिसने लीविस की ढेर सारी प्रशसा प्राप्त की है, इसी अन्तर्दृष्टि का प्रतिफल होता है। यही वह अन्तस्सूत्र है जो बिखरे हुए ऐन्द्रिय प्रभावो को एक व्यापक एकता मे संग्रथित करता है।[१३] निष्कर्षतः बौद्धिकता बिम्ब का अपरिहार्य तत्व है जिसका उल्लेख परिभाषा मे अपेक्षित है। इस अपेक्षा से यह कहकर मुंह नही चुराया जा सकता कि भाव में ही विचार को समाहित कर लिया गया है और इसीलिए अलग से उल्लेख आवश्यक नहीं है; क्योंकि सिद्धान्ततः तो उसे सकार लिया जाता है, पर व्यवहारतः ताक पर रख दिया जाता है। होता यह है कि ज्यो-ज्यो विवेचन आगे बढ़ता है, विचार छूटता जाता है और सवेग अपने आदिम या रूमानी रूप में हावी होने लगता है तथा भाव मे विचार शामिल है, यह प्रारम्भिक स्थापना भुला दी जाती है। सधे हुए आलोचक भी इससे बच नहीं पाते। ऐसी स्थिति में पाठक को पथ-भ्रम से बचाये रखने के लिए आरम्भ से ही अपने सारे पत्ते खुले रखना क्या उचित न होगा? वैज्ञानिक स्पष्टता का तकाजा तो यही है।

३. **काव्यात्मक आवेग**—बिम्ब को काव्यबिम्ब में बदल देनेवाली जादू की छड़ी काव्यात्मक आवेग है, सामान्य संवेग या आवेग नही। इसे पहले विस्तार से कहा जा चुका है, इसलिए दुहराने की आवश्यकता नहीं है। यहाँ इस ओर ध्यान आकर्षित करना अभीष्ट है कि काव्यात्मक आवेग नितान्त भावुकताजन्य नहीं, जैसा कभी-कभी समझ लिया जाता है, वरन् संवेदनशीलताजन्य होता है, सवेदनशीलता जो वैसे तो मानसिक संरचना तथा क्षमता, पूर्वानुभूतियों आदि कई बातों पर निर्भर होती है, किन्तु मूलतः यह ऐन्द्रिय सवेदनीयता की उपज है। हमारी यह ऐन्द्रिय संवेदनशीलता भावनात्मक और चिन्तनात्मक दोनों धरातलों पर प्रक्षेपित होती है जिन्हें हम भावशीलता और विचारशीलता कह सकते हैं। इन दोनों प्रक्षेपणों की तीव्रता मे सापेक्षित कमी-बेशी हो सकती है,

१२. चिन्तामणि, दूसरा भाग, २०२७ वि०, पृ० १७८
१३. आधुनिक हिन्दी कविता में बिम्ब विधान, पृ० ७१

किन्तु किसी का नितान्त अभाव नहीं होता। इस प्रकार मेरी मान्यता के अनुसार काव्यात्मक आवेगन में भाव शीलता के साथ विचारशीलता का न्यूनाधिक्य अवश्य होता है।

४ **सर्जनात्मक कल्पना**—काव्य मानव अनुभूतियों (विचारों और भावों) की कल्पनात्मक पुनः सृष्टि है। कल्पना के स्तर पर घटित होने के कारण काव्य सुखानुभूतिक होता है। जो स्थितियाँ या अनुभूतियाँ यथार्थ जीवन मे हमारे लिए अप्रीतिकर और दुखदायी होती हैं, कल्पना के स्तर पर उनमे भी अजीब सुखकरता आ जाती है। कटुता रह भी जाती है, तो मन्द और दूरागत अन्तर्ध्वनि के रूप में यानी मधुर कटुता के रूप में। ऐसा शायद इसलिए होता है कि इस प्रकार स्थिति के यथार्थ प्रभावों से बचकर भी उसका भोग हो सकने के कारण मानसिक रेचन हो जाता है।

इस प्रसग में एक बात और स्मरणीय है। वह यह कि काव्यबिम्ब जिस कल्पना का परिणाम है, वह सामान्य नहीं, सर्जनात्मक होती है। सर्जनात्मक कल्पना चयनात्मक और कलात्मक होती है। उसके पीछे संयम और सजगता रहती है। इसका यह अर्थ नहीं है कि उसमें सहजता-शून्यता और बनावट होती है। काव्य चेतन-अचेतन की मिश्रित प्रतिक्रिया का फल है। अत: सहजता के साथ उसमें सजग कलात्मक निखार भी होता है। हमारी कल्पना में अनगढ बिम्ब रूप मे अचेतन का जो स्वच्छन्द और निर्बन्ध प्रवाह फूटता है, वह सचेतन के धरातल पर आकर बन्धित, संयमित और संस्कारित होकर ही काव्य बनता है।

तो ये तत्व हैं काव्यबिम्ब के, जिनके समाकलन और समायोजन से उसकी सृष्टि होती है। ये काव्यात्मक आवेग से भरित और प्रेरित हो दिल-दिमाग की ऊर्जा सहित हमारी कल्पना में ऐन्द्रिय प्रतिकृति के रूप में उद्‌बुद्ध होकर सर्जनात्मक प्रयास द्वारा शब्दाबद्ध होते हैं। तो फिर सी० डी० लीविस के शब्दों को किंचित परिवर्तित व परिवर्धित करते हुए हम काव्यबिम्ब को यों सुस्वरूपित कर सकते हैं :

काव्यबिम्ब काव्यात्मक आवेग के साथ सर्जनात्मक कल्पना द्वारा निर्मित वह शब्द-चित्र है जो न्यूनाधिक रूप से ऐन्द्रिय होने के साथ ही संवेगात्मक और बौद्धिक संचेतना से अन्तर्ध्वनित होता है।

प्रेमचन्द् और ताराशंकर

ओमप्रकाश

मुन्शी प्रेमचन्द के हिन्दी-कथा-साहित्य में पदार्पण करते ही भारतीय उपन्यास का एक नया युग प्रारंभ हो जाता है, जिसकी सर्वमुख्य विशेषता जीवन के प्रति ईमानदारी है। प्रेमचन्द से पूर्व हिन्दी-उपन्यास में समाज-निरपेक्ष कल्पना का अतिरंजित आलोक उत्सुक पाठक की निर्बल दृष्टि को चमत्कृत करने मात्र का उत्तरदायित्व निबाहता था। परन्तु प्रेमचन्द की कला सजग पाठक को वास्तविक जीवन के समक्ष ले जाकर उसके प्रति अनुराग को जगाती है और उसे दिशा-निर्धारण मे उत्साहित करती हुई क्रियाशील बना देती है। 'प्रतिज्ञा' से 'गोदान' और 'मंगलसूत्र' तक की यात्रा मे पाठक को भारतीय समाज का वास्तविक चित्र सानुराग तूलिका से अंकित मिलता है। लेखन-काल से मृत्यु-पर्यन्त प्रेमचन्द की दृष्टि सामाजिक एवं राजनीतिक जागरण से सिहरन प्राप्त करती रही और उन समस्त चित्रों को वे दत्तचित्त होकर पाठकों के लिए प्रस्तुत करते रहे। उनमें आवृत्ति है, परन्तु ऊब नहीं; संकेत अनेक है, परन्तु चिकित्सा का प्रचारपरक आग्रह नहीं। और उस व्यापक चित्रावली मे लेखक सर्वत्र झाँकता रहा है, वह अपनी बात कह जाता है---आप उसे मानें या न माने। उसका दृष्टिकोण भारतीय है। पेटेंट दवाइयों को सजाकर वह कंमिस्ट नहीं बन जाता, प्रत्युत देखे-सुने-समझे अनुभव के आधार पर वह पर्चे पर औषधि लिख देता है---अपना हस्ताक्षर करके।

'प्रतिज्ञा'-वर्ग के चार उपन्यास तो महान् हिन्दू नारी की वर्तमान दयनीय दशा के विभिन्न चित्र ही है, 'प्रतिज्ञा' मे विधवा-विवाह, 'वरदान' मे असफल स्नेह, 'सेवासदन' में नारी के ऊपर समाज के क्रूर अत्याचार तथा 'निर्मला' में अनमेल विवाह का चित्रण लेखक का अभीष्ट था। इस वर्ग के उपन्यासों मे आर्यसमाज द्वारा जगाई हुई समाज-चेतना प्रेमचन्द को लेखक का उत्तरदायित्व सिखा रही थी, वे मानव-चरित्र की सहज उज्ज्वलता को प्रकाशित करने मे लगे हुए थे। 'वरदान' उपन्यास की माधवी अपने निःस्वार्थ तप के कारण इतनी महान् सिद्ध होती है कि उसको मानवी न कहकर देवी मानने की इच्छा हो जाती है।

प्रेमचन्द का कैनवास 'सेवासदन' से ही विस्तृत हो चुका था और वे सामाजिक परिवर्तनों के मूल में आर्थिक परिस्थितियों और राजनीतिक व्यवस्थाओं को महत्व देने लगे थे। समाज के दोनों क्षेत्र उनके सामने थे। एक तो था ग्रामीण किसान-मजदूरो का दलित विपन्न समाज, जिसमें न शिक्षा है और न चतुराई, सफाई न रहन-सहन की है न बातचीत की, जिसके पास एक झूठी मर्यादा परन्तु एक सच्चा आदर्श है, जिसने संस्कृति एवं मानवता को चिपका रखने के लिए लुभावने एवं आकर्षक समझौतों को सदा ठुकराया

है, जो बाहर से टूटकर भी भीतर से अक्षत है। और दूसरा था शहरी पढ़े-लिखे लोगों का समाज जिसने नौकरी पाने के लिए, आश्रय की सुरक्षा के निमित्त, शासकों का सदा अन्धानुकरण किया है; वे खुशामदी तथा स्वार्थी हे, अपने को शेष समाज से अलग रखकर उस पर मालिकाना अधिकार दिखाने वाले; शिक्षा का दुरुपयोग करके यह समाज झूठी सजधज में अपना सर्वस्व होम कर रहा है। प्रेमचन्द के उपन्यास समाज के इन दोनों पक्षों को उजागर करते है, पहिले से सहानुभूति रखकर और दूसरे को झिड़कते हुए। समाज दोनों पक्षों से बना है तो समाज का चित्रण भी दोनों के प्रति न्याय मांगता है। 'सेवासदन' का चेतू ही 'प्रेमाश्रम' में निखर कर सामने आ गया है, किसान और जमींदार इस उपन्यास के नायक हे, धरती की समस्या कथावस्तु का आधार है, और उस समस्या का आदर्श समाधान, प्रेमचन्द की दृष्टि में, किसानों को बिना किसी लेन-देन या झगड़े-टंटे के अपनी जोत का मालिक बना देना है। 'प्रेमाश्रम' तक आकर लेखक का चिन्तन स्थिर हो गया था, उसका लक्ष्य निश्चित हो चुका था। 'गोदान' इसी रूपरेखा का विकसित चित्र है, यहाँ तक कि 'गोदान' को 'प्रेमाश्रम' का ही परिवर्तित एवं परिष्कृत रूप कहा जा सकता है। 'प्रेमाश्रम' में समाज का एक पक्ष था तो 'गबन' में दूसरा, 'गबन' 'प्रेमाश्रम' का पूरक है। पश्चिमी सभ्यता के चकाचौंध से आकृष्ट होने वाले आडम्बर-प्रिय शहरी नवयुवक इस उपन्यास के नायक हे, यह वर्ग झूठे दिखावे में अपने जीवन को ही बरबाद कर बैठता है, और झूठे या बेईमान जीवन की यह आदत विद्यार्थी जीवन से ही पड़ जाती है—यह विदेशी शिक्षा का हमारे समाज के लिए सबसे बड़ा योगदान है। नारी-जीवन मे यह दिखावा आभूषण-प्रेम के रूप में प्रकट होता है। परस्पर को धोखा देते हुए जीवन बिताने वाले ऐसे दम्पति, पहिले समाज से, और फिर अपने आप से, आंखे चुराते हुए, भाग खड़े होते हे। ग्राम एवं नगर दोनो ही पीड़ित हे परन्तु दोनो की पीड़ाएँ अलग-अलग प्रकार की हे। 'कायाकल्प' में ग्राम और नगर दोनो के एकत्र चित्र हे। रानी देवप्रिया वासना की ओस से जिस चिरसंचित प्यास को तृप्त करना चाहती थी वह तो प्रेमामृत से ही शान्त होने वाली वस्तु है। मनोरमा का प्रेम उसको एक अप्रिय व्यक्ति से विवाह के लिए बाध्य करता है, परन्तु देवप्रिया तो वासना की विकलता से निरन्तर ठोकरें ही खाती रहती है। सामान्यतः 'कायाकल्प' पर रोमांटिक होने का आरोप लगाया जाता है, परन्तु उपर्युक्त विश्लेषण से ऐसा लगेगा कि प्रेमचन्द वासना की निस्सारता दिखाकर प्रत्यक्ष की स्थापना करना चाहते थे, समाज के उभयपक्षों में व्याप्त सूक्ष्म जीवन-मूल्य उनकी दृष्टि से वासनामूलक उपलब्धियों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण हे।

'रंगभूमि' से प्रेमचन्द मे फिर एक निश्चित विस्तार दिखाई पड़ने लगता है। सामाजिक असन्तोष व्यापक बनकर राष्ट्रीय आन्दोलन में बदल जाता है। किसान और जमींदार, पूंजीपति और मजदूर, हाकिम और कर्मचारी सब इसकी लपेट में आ जाते हे। गान्धी जी ने यह प्रयत्न किया कि जन-जन में मनोबल जगाया जाय और बड़ी लड़ाई के लिए जनता छोटे-छोटे झगड़ों को स्थगित कर दे। वे यह भी चाहते थे कि यह लड़ाई

सूक्ष्म साधनों के सहारे सूक्ष्म-स्थूल उपलब्धियों के लिए मान ली जाय। आन्तरिक अभ्यु-त्थान के बिना स्थूल संघर्ष संभव नहीं है, राजनीतिक एवं आर्थिक आन्दोलन भी चरित्र एवं आदर्श के बिना नहीं चल सकते। अस्तु, जिस युद्ध में समाज के गण्यमान्य नेता, अधिकारी एवं बुद्धिजीवी पराजित हो जाते हैं उसमे अन्धा सूरदास अन्त तक लड़ता रहा--उसका मनोबल एवं आत्मबल, उसका एकमात्र सहारा था। सूरदास सफल न हुआ परन्तु वह पराजित भी नही है। झटका खाकर उसने आत्मविश्लेषण किया, जिससे कमियों को दूर करके और अधिक उत्साह के साथ वह लड़ सके। "मुझ से खेलते न बना, तुम मँजे हुए खिलाड़ी हो, दम नहीं उखड़ा, खिलाड़ियों को मिलाकर खेलते हो और तुम्हारा उत्साह भी खूब है। हमारा दम उखड़ जाता है, हांफने लगता है और खिलाड़ियों को मिलाकर नहीं खेलते, आपस में झगड़ते हैं, गाली-गलौज मार-पीट करते हैं, कोई किसी की नहीं मानता।"[1] 'कर्मभूमि' मे यह चित्र और गहराई के साथ अंकित किया गया है। यहाँ किसान-मजदूर ही नही, शहरी लोग भी लेखक की सहानुभूति प्राप्त कर सके हैं, हरिजन एवं मुसलमान भी इस चित्र मे अधिक उभरे हुए दिखलाई पड़ते हैं। राष्ट्र की दृष्टि से सब समान हैं, आन्दोलन का उपयोग भी सबके लिए एक-सा है, वृत्ति एवं व्यक्ति के भेद से अन्तर होते हुए भी राष्ट्रीय आन्दोलन मे उसका दायित्व है।

'गोदान' मे पहुँच कर प्रेमचन्द की कला परिपाक की चरम सीमा का स्पर्श कर लेती है। भारत का वास्तविक चित्र और भारत की वास्तविक समस्या व्यापकतम एवं उज्ज्वलतम रूप मे यहाँ हम देख सकते हैं। इसका मुख्य पट ग्रामीण जीवन है, यद्यपि शहरी पात्र एवं उनकी झाकी भी यहाँ उचित अनुपात मे है। किसान का जीवन मर्यादा का कंकाल मात्र रह गया है, नौकरशाही उसका खून चूस रही है, तो अन्धविश्वास उसे पनपने नहीं देते, जमींदार एवं महाजन उसके नासूर बन चुके हैं, वह सबसे उपयोगी एवं सबसे गर्हित है, उसे मरने नही दिया जायगा, परन्तु उसके जीने के अधिकार पर सदा प्रश्न-चिह्न लगा रहता है। भारत का किसान केवल साधन है, शताब्दियों से वह साधन रहा है, उसका साध्य, अच्छा साधन बनना है। जीवन भर सचाई एवं ईमानदारी से जुटे रहने पर भी होरी की एकमात्र लालसा[2]--गाय रखने की--पूरी न हो पाई, आत्मबल से विजयी होकर भी होरी भौतिक दृष्टि से जीवन-संग्राम मे पराजित ही रहा। लेखक ने इस पराजय को भी विजय मान लिया है क्योंकि इसमें आत्मबल की कमी नहीं हो सकी है, जीवन कर्मक्षेत्र है, जो निरन्तर कर्मशील रहता है वह पराजित होता ही नहीं। मजदूर स्त्री ने दातादीन को डांट कर कहा--'भीख मांगो तुम जो भिखमंगे की जाति हो, हम तो मजदूर ठहरे, जहाँ काम करेंगे वही चार पैसे पाएँगे।' गोबर ने भी--'सुना है और समझा है कि अपना भाग्य खुद बनाना होगा, अपनी बुद्धि और साहस से

१. रंगभूमि, पृ० ८९०,
२. "हर एक गृहस्थ की भांति होरी के मन में भी गऊ की लालसा चिरकाल से संचित चली आती थी"।

इन ताकतों पर विजय पाना होगा'। लेखक इस निष्कर्ष पर पहुँचा है कि जब तक किसान में स्वबल (आत्मबल एवं मनोबल) का संचय नहीं होता तब तक कोई भी बाहरी शक्ति (ईश्वर अथवा नेता) उसकी सहायता नहीं कर सकती, स्वबल से ही बाहरी संबल अर्जित हो पाता है। 'मंगलसूत्र' में प्रेमचन्द ने मध्यवित्त समाज पर किसान के इस निष्कर्ष को घटाया है। निरन्तर संघर्षरत मध्यवित्त समाज को भी यह जानना चाहिए कि स्वबल का विकास जो किसान के उद्धार का एकमात्र उपाय है वही घुटन में पलने-वाले, दो पाटों के बीच मे पिसने वाले, इस वर्ग का भी श्रेय है, कदम-कदम पर ठोकर खाकर यही सीखता हुआ नगर का अल्पसंख्यक बुद्धिजीवी मध्यवित्त समाज अपने अस्तित्व को सार्थक बनाने मे प्रयत्नशील है। अस्तु, प्रेमचन्द के निदान एवं उपचार दोनों देशी हैं—भारत की मिट्टी से निकले हुए भारतीय जलवायु मे उपयोगी।

बंगला उपन्यासकार शरत् और ताराशंकर से प्रेमचन्द की तुलना की जा सकती है। शरत् प्रेमचन्द की अपेक्षा अधिक परिवार-समाजोन्मुख हैं और उनके उपचार प्रेमचन्द से कम स्थूल हैं। 'एक की कला मे 'नारी-भाव' की प्रधानता रहती है, दूसरे की कला मे 'पुरुष-भाव' की। एक कोमलता की व्यंजना करती है, दूसरी ओजस्विता की। एक की कहानी हृदय-संग्राम से सम्बन्ध रखती है, दूसरे की जीवन-संग्राम से'।[1] शरत् मे नारी का वही रूप है जो प्रेमचन्द मे है, फिर भी प्रेमचन्द की नारी मे वह गहराई नहीं है जो शरत् की नारी मे, वह न उतनी सूक्ष्म है और न उतनी प्रखर। प्रेमचन्द ने नारी के रूप की केवल वे रेखाएँ देखीं जो सुलभ हैं परन्तु शरत् की नारी जीवन की विषमता में प्रवेश कर गई और उस संघर्ष ने उसके रूप को चमक एवं निखार प्रदान कर दिया। प्रेमचन्द के उपन्यासो मे तथाकथित सभ्य नारी बहुत दिखाई नहीं पडती और जहाँ है भी वहाँ न्याय नहीं मिला। 'गोदान' की मालती, 'कायाकल्प' की देवप्रिया एवं 'प्रेमाश्रम' की गायत्री इस नारी का प्रतिनिधित्व करती हैं। प्रेमचन्द मे शरत् के समान सामाजिकता तो है परन्तु वे इस समाज को आर्थिक एवं राजनीतिक सीकचो मे जकड़ा हुआ देखते हैं, जब तक इनको छिन्न-भिन्न नहीं किया जायगा तब तक पुरुष और स्त्री स्वतन्त्र नहीं हैं, और जो स्वयं बद्ध है उसके पाप-पुण्य का निर्णय नहीं हो सकता, कर्म का दायित्व तभी माना जाता है जब कर्म की स्वतन्त्रता हो।

ताराशंकर के 'गणदेवता' की तुलना प्रेमचन्द के उत्तरकालीन उपन्यासों विशेषत: 'गोदान' से की जा सकती है। दोनों भारत की दो अत्यन्त उन्नत भाषाओं के शिरोमणि कथाकार हैं—उन भाषाओं के जो उपन्यास एवं नाटक के क्षेत्र में परस्पर में अत्यधिक निकट हैं, दोनों सामाजिक क्रान्ति के अग्रदूत हैं, दोनों के साहस को देखकर उन पर लेबिल लगाने का प्रयत्न किया गया था, और दोनों का विकास अत्यन्त स्वाभाविक एवं क्रमिक है। 'गणदेवता' एवं 'गोदान' भारतीय उपन्यास-साहित्य के अमर रत्न माने जा सकते हैं। इन उपन्यासों में अनेक प्रकार का साम्य है। दोनों का वातावरण ग्रामीण है,

---

१. जनार्दन प्रसाद झा द्विज : प्रेमचन्द की उपन्यास-कला, पृ० १५४.

पात्र किसान-मजूर, जमींदार-साहूकार, पुलिस एवं मालगुजारी के अफसर हैं। प्रेमचन्द एवं ताराशंकर ग्रामीण जीवन से खिन्न होकर भी उस पर श्रद्धा रखते हैं, शहरी जीवन एवं आधुनिक शिक्षा को वे भारतीय ग्राम का सहारा नहीं मानते। आन्तरिक महत्ता एव राजनीतिक उपेक्षा ग्रामीण शोचनीयता की कुंजी है। तारा बाबू के शब्दों में--"एखाने मानुष अशिक्षित अथच शिक्षार प्रभावशून्य अमानुष नय। अशिक्षार दैन्ये इहारा संकुचित, कुशिक्षा वा अशिक्षार व्यर्थतार दम्भे दांभिक नय। शिक्षा एखानकार लोकेर ना थाके, एकटा प्राचीन जीर्ण संस्कृति आजउ आछे,--अवश्य मुमूर्षुर मतइ कोन मते टिकिया आछे। किन्तु ताहारउ एकटा आन्तरिकता आछे।"[1]

दोनों उपन्यासकार ग्रामीण समस्याओं का विश्लेषण एक ही रूप मे करते हैं। वे मनुष्य के आन्तरिक अभ्युत्थान मे विश्वास करते हुए भी यह स्वीकार करते है कि दरिद्रता से बड़ा अभिशाप दूसरा नहीं है। जिसके पास धन है, वही कुलीन है[2]--यह उक्ति समाज मे कुछ ऐसी जुड़ गई है कि 'धन' और 'कुल' युग्म सन्तान के समान संस्कृति के सयुक्त उत्तराधिकारी बन गये हैं। द्वारिक चौधरी ने ठीक ही कहा है--'मा-लक्ष्मीर नाम श्री। लक्ष्मी जार आछे, तारइ श्री आछे, से मने बल, चेहराय बल, प्रकृतिते बल'।[3] जब तक भारत के किसान एवं मजदूरों में मनोबल, शरीरबल और उन दोनों का प्रतिबिम्ब अर्थबल एवं शासन बल एकत्र न होगा तब तक उनका कल्याण नहीं हो सकता। यह ठीक है कि उद्योगी[4] व्यक्ति के पास लक्ष्मी स्वय आ जाती है, परन्तु उद्योग के लिए भी तो मनोबल एवं शरीरबल की आवश्यकता है। ग्रामीण समाज आज टूटा हुआ है, उसे ढाढ़स बंधाना होगा और अपने अधिकार के प्रति सचेत करना होगा। प्रेमचन्द और ताराशकर दोनों ही अपने साहित्य में इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं।

'गणदेवता' के कतिपय पात्र 'गोदान' के कुछ पात्रो से मिलते-जुलते हैं। 'गणदेवता' के पातु, छिरु और दुर्गा क्रमशः 'गोदान' के होरी, मातादीन और मालती से अधिक दूर नही हैं---कम-से-कम 'आन्तरिकता' की दृष्टि से। पातु की लाचारी एवं परिस्थितियों के प्रति समर्पण होरी की परवशता एवं 'धर्मात्मापन' से तुलनीय है। छिरु अथवा श्रीहरि दातादीन का प्रतिरूप है, यद्यपि अधिक चालाक एवं चतुर। दुर्गा एवं मालती के निर्माण एवं विकास अलग-अलग हैं, अनेक पाठक उनकी तुलना को पसन्द नहीं भी कर सकते, तथापि वासना एवं दिव्यता की चित्र-विचित्र रेखाएँ दोनों मे समानान्तर हैं। पुलिस अथवा बन्दोबस्त के अधिकारी अर्थात् हाकिम-लोग, समाज के विधाता एवं नेता, तथा धर्म-धन के शासक दोनों उपन्यासों में समान रूप से चित्रित किये गये हैं।

'गोदान' एवं 'गणदेवता' में मुख्य अन्तर ग्रामीण जीवन को दो अलग-अलग रूपों मे देखने से आया है। प्रेमचन्द भारतीय किसान की मूक वेदना से द्रवित होकर उसकी

१. गणदेवता (चंडीमंडप) (चैत्र १३७७) (१९, पृ० १८५)
२. यस्यास्ति वित्तं, स नरः कुलीनः।
३. गणदेवता... (१८, पृ० १७२)
४. उद्योगिनं पुरुषसिंह मुपैति लक्ष्मीः।

युगान्तकारिणी कथा लिख रहे थे, परन्तु ताराशंकर का उद्देश्य 'भारतीय किसान' न होकर 'भारतीय ग्राम' है, 'अद्भुत पल्लीग्राम, विशेष ए देशेर पल्लीग्राम समाज-गठनेर आदिकाल हइते ठिक एकइ स्थाने अनन्तपरमायु पुरुषेर मत बसिया आछे'।[1] शासक बदले, क्रान्तियां हुईं, हिन्दू, पठान, मुगल, मराठा, सिक्ख, अंग्रेज क्रमशः सत्ता को हथियाते रहे, परन्तु ग्रामीण जीवन ज्यों-का-त्यों ही रहा।[2] वह शताब्दियों से दबता-पिसता हुआ अपने परार्थ अस्तित्व को सुरक्षित करने का विफल प्रयास करता आ रहा है। प्रेमचन्द ने, कदाचित् गांधी जी के प्रभाव से, ग्रामीणों की मूक पुकार को सुना था और वे ग्राम का प्रतिनिधि किसान को मानते थे। ताराशंकर में भी ग्राम है, परन्तु उसका एकमात्र प्रतिनिधि किसान नहीं है, प्रत्युत दलित, निराश्रय, निस्स्व वंचित, एवं तिरस्कृत मजदूर हैं "गणदेवताय जनसाधारणइ नायकेर भूमिकाय अवतीर्ण हयेछे"[3]। अस्तु 'गणदेवता' की पृष्ठभूमि पर धरती की समस्या एवं जमींदार-साहूकार के अत्याचार नहीं हैं प्रत्युत ग्राम के उपेक्षित समाज की दलित दशा उनका मुख्य वर्ण्य विषय समाज है, जिसका अस्तित्व दूसरों की समाज ठोकर खाकर दारिद्रय एवं दीनता को वहन करते हुए अपने जीवन को ढकेलना है, 'तार चारि पाशे एइ ध्वंसोन्मुख पारिपार्श्विक—अज्ञान, अशिक्षा, दारिद्र्य, दीनतार तीर्थ, कठिन जीवन-संग्राम एखाने निपुण सरीसृपेर सुकठिन वेष्टनीर मत श्वासरोध करिया क्रमश चापिया धरितेछे'।[4]

'गणदेवता' की समस्या ग्रामीण जीवन, अतः भारतीय जीवन, की सामान्य समस्या है। परन्तु उसका महत्व सामान्य नहीं है। आधुनिक युग ने ग्रामों को एक और अभिशाप दे दिया है, मशीन का। मशीन ग्राम की शत्रु है, वह ग्रामों को मिटाकर शहरी बस्तियां बना देगी, खेतों को कारखानों में बदल देगी, प्रकृति से विकृति की ओर ठेलकर स्वयं मनुष्य को भी अपना प्रतिबिम्ब अर्थात् मशीन ही बना देना चाहती है। मशीन की शहरी चमक-दमक भूखे और भोले ग्रामीणों को आकृष्ट कर लेती है और प्रत्येक मनुष्य जीवन के हर कदम को अर्थ के तराजू पर तौलने लगता है। इसी कारण चीन में जब रेलगाड़ी चली तो प्रकृति की गोद में खेलने वाले पशु और पक्षी ही नहीं, ग्रामीण मनुष्य भी बिदक कर विरोध करने लगे। गान्धी जी का स्वराज्य, 'ग्रामों की ओर' को इसीलिए अनुपेक्षणीय सहयोगी मानकर चला था। प्रेमचन्द इस अभिशाप तक नहीं पहुँचे, परन्तु ताराशंकर इसी से प्रारभ करते हैं। 'से शहरेर ऊर्ध्वलोके शतशत कलकारखानार चिमनि उद्यत हइया आछे तपस्वीर ऊर्ध्वबाहुर मत ! अविश्वास्य अपरिमेय ताहादेर शक्ति। बन्दी दानवेर मत यन्त्रशक्तिर मध्य दिया से शक्तिर क्रिया चलितेछे। उत्पादन करितेछे विपुल-सम्पद-संभार। किन्तु तबु मरणोन्मुख पल्लीके ताहार भलि

१. गणदेवता (२४, पृ० २६१)
२. उपर्युक्त में उद्धृत सर चार्ल्स मेटकाफ का छायानुवाद
३. अनिल विश्वासः विंश शतकेर बांग्ला साहित्य, पृ० ८३
४. गणदेवता (२४, पृ० २५९)

लागियाछे।'[1] आदमी पल्ली को छोड़ कर नगर में भागा जा रहा है, खुली हवा को छोड़कर कारखानों के धुएँ में घुट जाने के लिए, उसने सहज स्वास्थ्य के बदले रक्त एवं फेफड़ों की बीमारियो का वरण कर लिया है, वह अपनी खेती छोड़कर मजदूरी में लग रहा है। धीरे-धीरे 'होरी' मिट रहा है और उसका स्थान 'गोबर' लेने लग गया है। कारण स्पष्ट है—'जेखाने मानुष दुटो पयसा पावे, सेखानेइ जावे'।[2] बड़े परिमाण पर तैयार होने वाली वस्तुएँ सस्ती तथा अच्छी हैं, हाथ के काम में वह सुथरापन नहीं है जो कल द्वारा निर्माण में। इसीलिए छोटे-छोटे कर्मकरो की जीविका छिन रही है और एक कृत्रिम समाज की सृष्टि होने लगी है, जिसके सदस्यों को आजकल 'वार्निश-करा जूतो चाह, लम्बा जामा चाइ, सिगारेट चाइ—परिवारेर शेमिज चाइ, वडिस् चाइ"—'[3]। परिणाम भयंकर होने वाला है। अर्थबल के कारण यथेच्छाचार बढ़ रहा है। 'ग्रामेर केहइ काहाकेउ माने ना, सामाजिक आचार-व्यवहार सब लोप पाइते बसियाछे।. . .बाइ, नापित चिरकेले विधान लंघने उद्यत हइल। जाहार मासे पांच टाका आय—से दशटाका खरच करिया बाबु साजिया वसियाछे। ऋणेर दाये ज विकाइया जाइतेछे, घटिवाटि वेचितेछे—लबु जामा चाइ, शोखीन-पाड़ कापड़ चाइ, घरे-घरे ह्यारिकेन लंठन चाइ। छोकरादेर पकेटे बिड़ि-देशलाइ ढुकियाछे, जंक्शन-शहरे गेलेइ सबाइ दु-एक पयसार सिगारेट ना किनिया छाड़े ना।'[4]

प्रेमचन्द ने तद्युगीन स्थिति का चित्रण किया था, ताराशंकर के समक्ष संधि-युग का चित्र है। प्रेमचन्द कतिपय महत्वपूर्ण समस्याओं का समाधान चाहते हैं, ताराशंकर भावी परिवर्तन की चेतावनी दे रहे हैं। प्रेमचन्द एवं ताराशंकर मे अन्तर केवल पीढ़ी का नहीं है प्रत्युत परिसर का भी है, प्रेमचन्द के 'अवध' में कल-कारखानों की उतनी विभीषिका नही थी जितनी कि ताराशकर के 'वीरभूमि-वर्द्धमान' में। पूरे राष्ट्र को ध्यान में रखकर निर्णय दें तो प्रेमचन्द की विषयवस्तु भारत के तीन-चौथाई क्षेत्र मे व्याप्त है, और ताराशंकर की केवल कतिपय अंचलों मे। इस दृष्टि से ताराशंकर प्रेमचन्द की अपेक्षा फणीश्वरनाथ 'रेणु' के अधिक निकट हैं। यदि 'गणदेवता' को आंचलिक उपन्यास के रूप मे ग्रहण किया जाय तो हिन्दी-भाषी समाज भी उसको ज्यों का त्यों अपना सकता है। यह ध्यान मे रखने से कि 'गणदेवता' की रचना 'मैला आंचल' से बारह[5] वर्ष पूर्व हुई थी, 'गणदेवता' का महत्व और भी बढ़ जाता है। 'गणदेवता' का अंचल मयूराक्षी के उत्तर का वीर-भूमि प्रान्त का वह भाग है जो बिहार तथा बंगला देश को छू रहा है, जिसके साथ कलकत्ता महानगर का भी संपर्क है। और 'मैला आंचल' का कथानक

१. गणदेवता (१९, पृ० १८६)
२. वही (१, पृ० ४)
३. वही (१, पृ० ८)
४. गणदेवता (१०, पृ० ७०-७१)
५. 'गणदेवता' प्रथम संस्करण बंगला संवत् १३४९ अर्थात् विक्रम संवत् १९९९ अर्थात् ईस्वी संवत् १९४२। 'मैला आंचल' प्रथम संस्करण सं० १९५४ ई०।

पूर्णिया में है, 'पूर्णिया बिहार राज्य का एक जिला है, इसके एक ओर है नैपाल, दूसरी ओर बांग्लादेश और पश्चिमी बंगाल।...दक्खिन में संथाल परगना और पच्छिम में मिथिला की सीमा-रेखाएँ..." ।[१]

अंचल की एकता के साथ-साथ 'गणदेवता' और 'मैला आंचल' में वस्तु-चित्रण, पात्र-कल्पना एवं उद्देश्य का भी साम्य है। "'गणदेवता' की पंचायत 'चंडीमंडप' में बैठती है जो शक्तिहीन हो गया है; और 'मैला आंचल' की कहानी में 'महन्त साहब' का मठ एक विशेष किन्तु अशक्त केन्द्र है। लक्ष्मी मठ की दासी है तो 'अहरह उदयान्त दुर्गा विलुर काछे थाके दासीर मत सेवा करे, साध्यमत से विलुके काज करिते देय ना, छेलेटाके बुके करिया राखे'।[२] दोनों उपन्यासों में एक-एक डाक्टर है बंगाली। दोनों में रेलवे स्टेशन के उस पर के शहरी जीवन की अनुभूत कल्पना है। दोनों रचनाएँ नेताओं तथा हाकिमों के अधिकार-मद से पराभूत हैं। परन्तु 'मैला आंचल' न तो 'गणदेवता' की नकल है और न उसका अनुकरण। रेणु में १९४७ ई० के भारतीय ग्राम का चित्र है, उसमें सब ओर से पड़ने वाले सीमा-प्रभावों, सन्धिकाल की अस्थिर चित्तवृत्ति, राजनीतिक दलों के संघर्षशील उदय, हाकिमों की परिवर्तनोन्मुख मनोवृत्ति, धर्म एवं पंचायत की आंखमिचौनी, दलबन्दी के जातिगत संगठन तथा कर्त्तव्य एवं प्रेम के अन्तःसंघर्ष को सफलतापूर्वक अंकित किया गया है। 'लक्छमी दासी' और 'बालदेव जी' के अतिरिक्त डा० प्रशान्त, 'सुमरितदास', तहसीलदार तथा कालीचरन भी इस उपन्यास के अमर पात्र हैं। इस अंचल में राजपूत, कायस्थ, ब्राह्मण और यादव इतने प्रमुख हो गये हैं कि हरिजनों एवं पतितों की उपेक्षा हो गई है। इस दृष्टि से 'मैला आंचल' 'गणदेवता' की अपेक्षा 'गोदान' से अधिक निकट है। भाषा की आंचलिकता इसका विशेष गुण है और कथा-शैली की ताजगी ने 'मैला आंचल' को हिन्दी-उपन्यास-साहित्य का एक नया मोड़ बना दिया है। अस्तु, 'गणदेवता' एवं 'मैला आंचल' उपन्यासों का एक विस्तृत तुलनात्मक अध्ययन नितान्त अपेक्षित है।

यद्यपि 'गोदान', 'गणदेवता', तथा 'मैला आंचल' तीनों उपन्यासों की प्रमुख नारी-पात्र अथवा नायिका अपने आप में अपूर्व एवं निश्चित उपलब्धियां हैं तथापि प्रेमचन्द एवं ताराशंकर के नायक भी पर्याप्त प्रभावशाली हैं। होरी किसान 'गोदान' का नायक है तो पातु हरिजन 'गणदेवता' का प्रमुख पुरुष-पात्र। प्रेमचन्द में ग्राम के अधिकारी जमींदार हैं परन्तु ताराशंकर का दुष्ट पात्र छिरु एक किसान ही है जो मुंह का पोपला, गर्जन में पशु के समान, चोर एवं व्यभिचारी है, 'हरिजन-पल्लीते सन्ध्यार पर जखन पुरुषेरा मदे विभोर हइया थाके, तखन छिरु निःशब्द पदसंचारे शिकार धरिते प्रवेश करे'।[३] वह ग्राम का 'नूतन सम्पदशाली व्यक्ति' है, इसलिए कोई न उसका कुछ कर सकता है और न उस पर लांछन लगा सकता है, 'ए संसारे जादेर टाका आछे ताराइ साधु, आर गरीब

१. 'पहले संस्करण की भूमिका' से।
२. गणदेवता (१८, पृ० १६३)
३. गणदेवता (२, पृ० १२)

मात्रइ असाधु'।[1] 'वह छिरुपाल चोरी करता है, व्यभिचार करता है और घर में बैठकर जप-तप करता है, समारोह के साथ काली पूजा करता है, ऐसे धर्म के माथेपर में पांच झाड़ू मारूँ'। 'गोदान' के दातादीन की अपेक्षा छिरुपाल अधिक दुष्ट एवं अधिक समर्थ है।

'गणदेवता' में सबसे प्रमुख स्त्रीपात्र दुर्गा है। वह भारतीय उपन्यास की अनुपमेय सृष्टि है। वह शैवलावृत्त कमलिनी है, झाड़-झंखाड़ों में गिरा हुआ पाटल है, स्वैरिणी के रूप में दिव्यात्मा है। दुर्गा नाम होते हुए भी वह चंडी नहीं है, पतित-जनों से घिरी रहकर भी वह आलोकमयी है, व्यभिचार-रत रहकर भी उसमें मलिनता नहीं आई। दुर्गा न तो पश्चात्ताप करती है और न संन्यास लेती है। जिस सहज रूप से वह व्यभिचार के गर्त में गिर गई थी उसी सहज रूप से वह नारीत्व की आभा से चमक उठी। नियति ने उसको व्यभिचारिणी बना दिया, उसको उस जीवन से न लज्जा रही न घृणा, नियति ने ही उसको सेवा का कर्त्तव्य सौंप दिया, उसने अपनाया बड़ी तत्परता एवं निर्लिप्त भाव से। ताराशंकर की अद्भुत सृष्टि है दुर्गा हरिजन। 'दुर्गार मध्ये आगुन ओ जल––दुइ इ आछे, एकाधारे ज्वलिबार ओ जुड़ाइबार उपादान। ताहार यौवने आछे आवेगमयी मानवीर ईषदुष्ण स्वाद, ताहा अनिरुद्धके उन्मत्त करिया तुलियाछे। ताहार भालवासाय आछे सर्वस्व टालिया दिबार आकूति।...किन्तु दुर्गा सहसा एक दिन ताहाके परित्याग करिया सरिया दांड़ाइयाछे––नूतनेर मोहे। दुर्गा तुषानल ओ परिओ मरीचिका––दुइ इ। से पाषाणी, विश्वासघातिनी, मायाविनी।"[2] "मोहिनी वेश' तथा 'सेवा तत्व' दोनों का सहज सम्मिश्रण दुर्गा के व्यक्तित्व में है। वह छिरु और देव दोनों की प्रेयसी है; एक बुराई का प्रतीक है, दूसरा अच्छाई का। 'गोदान' की मालती के समान दुर्गा में भारतीय नारी का वह सनातन रूप छिपा हुआ है। वह मालती से भी बढ़कर है, अपने पतन में तथा अपने उत्थान में। मालती "बाहर से तितली है, भीतर से मधुमक्खी"; पश्चिमी प्रभाव से जीवन का रस लूटने की इच्छुक, परन्तु दुर्गा को परिस्थितियो ने व्यभिचारिणी बना दिया था। मालती का आदर्श रूप मेहता को सहारा देने में है और दुर्गा अपना सर्वस्व अनिरुद्ध की सेवा में अर्पित कर दासी बन जाती है। समाज ने दुर्गा को कलंकिनी बना दिया, परन्तु अपने आचरण से वह चमक उठी। नारी के इस पतन का उत्तरदायित्व सफेदपोश समाज पर है, छिरुपाल, अनिरुद्ध, बाबु, नेता तथा बन्दोबस्त के हाकिम समाज में चारों ओर फैले हुए हैं। दूसरी ओर हरिजन पुरुष अपनी स्त्रियों के इस अनाचार के अभ्यासी हो चुके हैं, "एइ स्वभाव दमनेर जन्य कोन कठोर शास्ति वा परिवर्तन जन्य कोन आदर्शेर संस्कार इहादेर समाजे नाइ। अल्प-स्वल्प उच्छृंखलता, स्वामीरा पर्यन्त देखियाउ देखे ना। विशेष करिया उच्छृंखलतार सहित यदि उच्चवर्णेर स्वच्छल अवस्थार पुरुष जड़ित थाके ताहा हइले तो ताहारा बोबा हएया जाय।"[3] समाज के अधिकतर मनुष्य बिना कुछ सोचे-समझे जीवन

१. वही (३, पृ० १६)
२. गणदेवता (२०, पृ० २०४)
३. गणदेवता (८, पृ० ५२)

बिता रहे हैं, कुछ अच्छा कुछ बुरा, परन्तु जिस प्रकार अच्छे जीवन में कहीं भी पतन अंकुरित हो सकता है उसी प्रकार पतित जीवन में से अच्छाई कभी भी झांक सकती है। मनुष्य की मूल सत्प्रवृत्ति में उपन्यासकार का आशीर्वाद निहित है। "दु:ख करवेन ना पंडित। मानुषेर भूल-भ्रान्ति-मतिभ्रम पदे पदे। एरा मानुष नय बले दु:ख करछेन? मानुष हइया कि सोजा कथा?"[1]

प्रेमचन्द और ताराशंकर दोनों ही भारत की पीड़ित जनता के सजग कलाकार हैं। दोनों शहरी जीवन के प्रति संदिग्ध और ग्रामीण जीवन के प्रति श्रद्धालु हैं। दोनों ही धर्म, अर्थ एवं शासन के खोखलेपन से सुपरिचित हैं। दोनों ने ग्रामीण ध्वंस का सहानुभूतिपूर्ण चित्रण किया है: 'पल्लीर प्रतिटि घर जीर्ण, श्रीहीन, मानुषगुलि दुर्बल,'[2] "से शिक्षाउ नाइ, से दीक्षाउ नाइ, से दृष्टि नाइ। ए-सब मानुष आर एक जातेर मनुष। आर एक धातेर मानुष। मानुषेर नामे अमानुष"।[3] ये उपन्यासकार मनुष्य की दुर्बलता को चित्रित करके उसके भीतर छिपी हुई मनुष्यता को दिखा कर मनुष्य की महानता में विश्वास जगा सके है। 'गोदान' एवं 'गणदेवता' मनुष्य की अपरिमित शक्ति में विश्वास जगाकर उसकी विजय के प्रति पाठक मात्र को प्रेरित करते हैं। 'गोदान' एवं 'गणदेवता' के बीच में जो दशक[4] आता है वह भारतीय राजनीतिक इतिहास की दृष्टि से बड़ा महत्वपूर्ण है, प्रेमचन्द के जीवन-काल में भारतीय राजनीति जहाँ पहुँच रही थी वहाँ दूसरे महायुद्ध की घटनाओं से न ठहर सकी, अस्तु प्रेमचन्द एवं ताराशंकर के आर्थिक-राजनीतिक दृष्टिकोण में अन्तर आ गया है, ग्राम के सन्दर्भ में भी। और ताराशंकर आने वाली घटनावली को भी झांकने लग गये थे, जिसका विकास रेणु के 'मैला आंचल' में है। जिस चित्र को प्रेमचन्द ने लिया था उसकी आवृत्ति मात्र ताराशंकर में नहीं है, प्रत्युत वे महत्वपूर्ण पूरक बनकर ग्रामीण जीवन की अपेक्षित बस्तियों को अपनी सशक्त लेखनी से अंकित कर सके हैं। 'गोदान' एवं 'गणदेवता' भारत के अमर उपन्यास हैं और उपलब्धि में समानान्तर होते हुए भी चित्रपटी की दृष्टि से परस्पर के पूरक हैं।

---

१. वही (१५, पृ० १२४)
२. वही (२२, पृ० २३४)
३. गणदेवता (११, पृ० ७९)
४. गोदान (सन् १९३६ ई०) गणदेवता (सन् १९४२ ई०)

पंत की अल्प-परिचित कवितायें

श्रीमती गिरीश रस्तोगी

मैं मुँह में पानी भर जल फुहार बरसाऊंगा,
करो तुम मूल्यांकन, गिनो फुहार की बूंदें !

यानी किसी भी रचनाकार का सही मूल्यांकन एक चुनौती है विशेषकर तब जब कोई रचनाकार अपने समय में विकास और यश के चरम शिखर पर पहुंच चुका हो और हिन्दी कविता को नया स्वर और नयी ताजगी देने के अर्थ में जाना जा चुका हो और जब नए-पुराने आलोचक उसके सम्बन्ध में विशेष प्रकार के मानदंड निश्चित कर चुके हों ऐसी स्थिति में उस पर नए सिरे से विचार करना और कलम उठाना खतरे से खाली नहीं होता, लेकिन आवश्यक होता है। निश्चित रूप से पंत उन व्यस्त कवियों में से हैं जिन्होंने लेखन से विराम नहीं लिया है, जिनके बारे में पुराना आलोचक एक राय कायम कर चुका है और नया समीक्षक उसी को लगभग दोहराता हुआ पंत का पुनर्मूल्यांकन करते हुए अजीब-सी झुंझलाहट का अनुभव करने लगता है और अंत में उन्हें या तो कुछ नए तेवर के साथ मिलाजुला कवि या असमर्थ कवि घोषित कर देता है या उनकी महिमा-गरिमा की बात कहकर सिर झुका लेता है। आलोचना के इस क्रम में यह तय है कि पंत की परिचित यानी बहुचर्चित कविताओं के आधार पर ही प्रायः और बहुत कुछ कहा गया है—जैसे 'छाया', 'बादल', 'नौका विहार' आदि-आदि। आलोचकों द्वारा चर्चित कविताओं की पुनरावृत्ति की चपेट में प्रायः किसी भी कवि की वे कवितायें छूट जाती हैं जो कवि विशेष के काव्य-विकास, स्वभाव-व्यक्तित्व और काव्य-सौन्दर्य के नए संदर्भ संकेत दे सकती हैं, साथ ही हिन्दी काव्य के विभिन्न सूत्रों को परस्पर जोड़ने—सम्बद्ध करने में सहायक हो सकती हैं। चूंकि कविता अपने आप में एक गत्यात्मक, जीवन्त वस्तु—एक अनुभव है इसलिए वह अपने में पूरा आधार बन सकती है। इसलिए पंत की कुछ चुनी हुई और चर्चा के केन्द्र में न आनेवाली कवितायें पंत-काव्य के मोड़ और कविता की शक्ति भीतरी का, कुछ नए प्रयोगों की बेचैनी का अच्छा उदाहरण प्रस्तुत करती हैं। जाहिर है कि ये कवितायें व्यक्तिगत रुचि के आधार पर चुनी गयी हैं और 'कला और बूढ़ा चाँद' तक की काल-सीमा के अन्दर-अन्दर ही ; क्योंकि उसके बाद से आज तक पंत एक ही मुहावरे की कवितायें लिख रहे हैं यद्यपि उनमें भी कुछ अच्छी और भिन्न प्रकार की रचनायें मिल सकती हैं, लेकिन वह बाद की बात है। यह भी ध्यान रखना जरूरी है कि पंत में नए की खोज करने का मतलब स्वयं उनको भूल जाना नहीं है। उनकी सीमाओं में ही उनके वे पक्ष पहचानने आवश्यक हैं जो एक समय की दृष्टि के कारण अगर एक बार छूट जाते हैं तो फिर छूटते ही चले जाते हैं।

कहा जाता है कि 'पल्लव' और 'गुंजन' ने हिन्दी-काव्य को विविध स्तरों पर एक महत्वपूर्ण मोड़ दिया लेकिन युवा-ऊर्जा के प्रथम विस्फोट के बाद पंत की वह ताजगी कुम्हलाती गयी। न केवल अनुभूति का, बल्कि उसकी कल्पनाप्रवण अदायगी का स्तर भी क्रमशः गिरता गया (रमेशचन्द्र शाह)। बात एकदम सही नहीं है। उदाहरणार्थ हम 'युगवाणी' को लें। इस पद्यमय और विचार-प्रधान काव्य-संग्रह मे कुछ कवितायें अपनी संक्षिप्तता और ताजगी में अच्छी बन पड़ी है जो 'पल्लव' की रंगीन, मोहक और रोमानी वातावरण में लिपटी और कल्पना की ऊंची उड़ानों में उड़ती कविताओं से नितांत भिन्न प्रकार की हैं। जैसे 'बदली का प्रभात'—

निशि के तम में झर झर
हलकी जल की फुही
धरती को कर गयी सजल!
अंधियाली में छनकर
निर्मल जल की फुही
तृण तक को कर उज्ज्वल! . . . .
बीती रात,—
धूमिल सजल प्रभात
वृष्टि शून्य, नव स्नात!
अलस उनींदा-सा जग
कोमलाभ, दृग-सुभग!

यहाँ पंत की ऐन्द्रिक चेतना बिल्कुल सुप्त नहीं हुई है, जैसा कि 'युगवाणी' की अधिकांश कविताओं में है बल्कि यहाँ पंत के संबंध में बनी-बनायी धारणा को धक्का लगता है जैसे यही कहना मुश्किल है कि 'युगवाणी' में पहले की-सी कोमलता कहीं खो गयी। 'हलकी जल की फुही' से सरल, सहज शब्दो की संगति से उत्पन्न हल्के वातावरण की अनुभूति होती है, शब्दों के अपव्यय से आत्मसजग प्रयत्न से उत्पन्न बोझिल वातावरण की नहीं। यानी काव्य-रचना का ढंग वही लेकिन फिर भी कुछ नयापन। कविता कुछ-कुछ अज्ञेय की कविताओं के निकट जाती हुई-सी लगती है। 'बीती रात" के बाद एक लम्बा रिक्त स्थान, एक अंकुश जो समय के विस्तार और परिवर्तन का नाटकीय ढंग से संकेत कर जाता है। लेकिन कोई आश्चर्य नहीं होता जब पंत इतनी अनुभूति से जुड़ी कविता का अंत भी व्याख्यापरक कर देते हैं। अच्छी कविता की पहचान 'विशिष्ट से सामान्य की ओर' जाने में होती है जब कि पंत की कविता सामान्य से विशिष्ट की ओर बढ़ती है और बड़े पूर्व निर्धारित क्रम से बढ़ती है। यह उनका स्वभाव और अभ्यास है लेकिन कविता का कमजोर पक्ष है। फ्रेंच कवि मलार्मे कहता है कि 'कविता विचारों से नहीं लिखी जाती—विचारों में लिखी जाती है।' पंत के साथ इसका बिल्कुल उल्टा होता है। विचारों को पद्यबद्ध करने में या अच्छी से अच्छी कविता को भी

विचार और दर्शन-भूमि पर लाकर रख देने में वह निरन्तर संलग्न रहे हैं लेकिन उनकी 'ओस बिन्दु' शीर्षक रचना एक बहुत छोटी और इसीलिए अपने में पूर्ण और सही कविता है क्योंकि विचार या दर्शन होते हुए भी उनका यहाँ आरोपण नहीं है। छोटे से ओस कण के विविध रंगों, रूप-आकार, छायाओं का चित्रण करते हुए पंत कहते हैं—

ओस बिन्दु ! लघु ओस बिन्दु !
बहु नीले, पीले, हरे, लाल,
कलरव करते, किलकार, रार
ये मौन-मूक,—तृण तरु दल पर
तकते अपलक, निश्चल सोए
उड़-उड़ पंखड़ियों पर सुन्दर।

ओसबिन्दुओं का स्थिर और गत्यात्मक चित्र एक साथ; कम और साफ शब्दों में। यही ओसबिन्दु कवि को कभी पक्षी लगते हैं, कभी मधुमक्खी, कभी तितली, कभी जुगनूं, कभी मछली, कभी सूर्य-चन्द्र लेकिन लगता यह है कि—

निज नाम-रूप खो, जान-बूझ।
सब बने हुए हैं ओस-बिन्दु !

जानबूझकर ओसबिन्दु बने होने के पीछे कवि के निजी लगाव की, व्यक्तिगत अनुभूति की तीव्रता है। क्रिया-प्रतिक्रिया का, दृश्य-संवेदन का, शब्द-लाघव का ऐसा उदाहरण पंत में कम ही मिलता है। शब्द यहाँ चमत्कृत करके, बहला-फुसलाकर सहसा हमारा साथ नहीं छोड़ते, उल्टे सामने विविध रंगों-रूपों में दिखायी देनेवाले ओसबिन्दुओं से कवि के गहरे मानसिक उलझाव की व्यंजना महत्वपूर्ण हो जाती है। यहाँ पंत की व्यक्तिगत आवाज गुम भी नहीं हुई है और सफल अभिव्यक्ति के अतिरिक्त 'कुछ और' का अनुभव कराने की सामर्थ्य भी है। कविता बाहरी नियमों, बाहरी रूप-विधान से ही अनुशासित नहीं होती, उससे कहीं अधिक महत्वपूर्ण होते हैं उसके अपने भीतरी नियम। जैसा कि आई० ए० रिचर्ड्स कहता है कि 'कविता की विषयवस्तु की बात वह करता है जो कविता के 'कवितापन' को नहीं समझ पाता है, —कवितापन जो शब्दों के आन्तरिक संगठन से पैदा होता है। अच्छी कविता की भाषा हमेशा सक्रिय और स्पष्ट होगी; उसमें शब्दों के अंतर और आगे की समझ होगी। 'ग्राम्या' की 'याद' रचना पाठयक्रम में होते हुए भी उनकी बहुचर्चित कविताओं में से नहीं रही है, लेकिन कवि की निजी अनुभूति इस कविता को अंत तक बांधे रखती है; कहीं भटकन, उलझाव या बिखराव नहीं है—

विदा हो गई साँझ, विनत मुख पर झीना आंचल धर।
मेरे एकाकी आंगन में मौन मधुर स्मृतियाँ भर।
वह केसरी दुकूल अभी भी फहरा रहा क्षितिज पर,
नव असाढ़ के मेघों से घिर रहा बराबर अम्बर।

सांझ विदा होते हुए भी मन पर जो छाप छोड़ जाती है, उसकी व्यंजना पहली पंक्ति में सुन्दर है। 'केसरी दुकूल' मधुर स्मृतियों का, 'बराबर' शब्द याद की निरन्तर मौजूदगी का संकेत करता है और फिर—

मैं बरामदे में लेटा, शय्या पर, पीड़ित अवयव
मन का साथी बना बादलों का विषाद है नीरव
सक्रिय यह सकरुण विषाद,—

अपनापन लिए हुए एक वातावरण! स्मृति मधुर होते हुए भी पीड़ा देती है; कवि का एकाकी मन हमेशा की तरह प्रकृति में अपना साथी ढूंढ लेता है। ध्यान देने योग्य है—'बादलों का विषाद है नीरव'—जो गरजते हैं वह बरसते नहीं—मौन अनुभूति मात्र, लेकिन फिर भी सक्रिय—उमड़ते हुए बादलों की तरह। कविता में शब्द अपने में एक अनुभव, एक इतिहास, एक चित्र होता है। भावना की एकाग्रता ही यहाँ पंत को कोरे कौशल से बचा ले जाती है। वैयक्तिक अनुभूति से स्पन्दित होने के कारण ही इसमें नाप-जोख वाली शैली नही है जिसके लिए पंत जाने जाते हैं। पंत की अधिकांश कविताओं में उनकी कविवृत्ति को पहचानना मुश्किल नही होता लेकिन 'ग्राम्या' की कई कविताओं में भावों की सच्चाई को अपनी पूरी सादगी के साथ स्वस्थ रूप मे पंत प्रस्तुत कर सके हैं। इनमें गहरी करुणा और विवशता के चित्र भी हैं, व्यंग्य और कटूक्तियाँ भी। इतना स्पष्ट, सार्थक और मार्मिक व्यंग्य चौंकाता है क्योंकि मूलत: पंत व्यंग्य के कवि नहीं हैं। 'ग्रामवधू' में इस स्वस्थ प्रवृत्ति का अच्छा उपयोग किया गया है। व्यंग्य इस पूरी कविता में कवि के दृष्टिकोण में है, शब्दों के खिलवाड़ मे नही, उसमें आलोचनात्मक गभीरता भी है। कविता की सर्जनात्मक संभावनाये यहाँ देखी जा सकती हैं, साथ ही काव्य भाषा का नया रूप भी। मनुष्य मे, मानवीय व्यापारो में इतनी रुचि ले लेना पंत के संदर्भ मे बहुत अधिक है। अपने पूर्वार्द्ध में ही प्रभावशाली होने पर भी 'खिड़की से' कविता मे विशिष्ट है। कविता का आरम्भ उसकी शैली, स्वर पंत की अन्य कविताओं से भिन्न है—

पूस : निशा का प्रथम प्रहर : खिड़की से बाहर
दूर क्षितिज तक स्तब्ध आम्र वन सोया : क्षण भर
दिन का भ्रम होता : पूनो ने तृण तरुणों पर
चाँदी मढ़ दी है, भू को स्वप्नों से जड़कर।

काफी आगे तक पंत निरीक्षण के विशिष्ट कवि लगते हैं जिसके लिए नरेश मेहता ने उन्हें 'विस्तार का गायक' और 'समतल भूमि की प्रतिभा' कहा। इसके अतिरिक्त पंक्तियों में तुक होते हुए भी पढ़ने में अतुकांत कविता का-सा सौन्दर्य है। पंत की सुघड़, सुरुचिपूर्ण भाषा के निकट होते हुए भी उससे एकदम भिन्न भाषा का स्वरूप 'वे आंखें' रचना में देखा जा सकता है—

अंधकार की गुहा सरीखी
उन आंखों से डरता है मन।

'मूल तत्वों' की खोज करने वाले तटस्थ कवि की दृष्टि यहाँ ग्रामीण की आँखों में छिपी मर्मांतक पीड़ा में दूर तक डूबी है—'गुहा' शब्द का सारा सौंदर्य इसी में है। यहाँ केवल चाक्षुष संवेदन नहीं है, रूढ़िग्रस्तता भी नहीं है; कविता का अन्दरूनी तकाजा ज्यादा है, स्वतंत्र कल्पना से कोरा अलंकरण मात्र नहीं इसलिए कवि की अनुभूति से हमारा तादात्म्य हो जाता है और पंत की यह बात सही लगने लगती है कि 'मैं न अब रसगीत लिखता, प्यार केवल प्यार करता हूँ।' पंत की बहुत-सी कवितायें सचमुच 'व्यक्तिगत वस्तु' बनकर रह गयी हैं। कुछ ही ऐसी हैं जिनमें पाठक बिना रुकावट के अंत तक शरीक होता चलता है जैसे 'संध्या के बाद' कविता में गाँव के अंधेरा में जलते हल्के प्रकाश का वर्णन कवि दूर तक करता चला जाता है जो बिना किसी लगाव के दृश्य का सीधा वर्णन नहीं है। जैसे—

> धुआँ अधिक देती है
> टिन की ढबरी, कम करती उजियाला
> . .. .
> सकुची-सी परचून किराने की ढेरी
> लग रही तुच्छतर।

टिन की ढबरी का धुआँ अधिक देना, उजियाला कम करना ग्राम्य जीवन की करुणा-विवशता को अनुभूत कराता है। 'धुआँ' शब्द इसलिए सार्थक है, फालतू नहीं। 'परचून किराने की ढेरी' को 'सकुची-सी' कहना पंत की जानी-पहचानी स्वभावगत कोमलता का सूचक है। यहाँ पर कविता मे टैक्निकल क्रांति पैदा करने वाले ईलियट के एक गीत की पंक्तियाँ याद आ जाती हैं—

> आओ उठो चलो चलें, तुम और मैं
> देखो तो शाम आसमान पर फैली हुई है इस तरह
> जैसे कोई मरीज मेज पर बेहोश हो पड़ा।

यहाँ ऐसा शब्द-चित्र है जिसका लगाव जीवन से निकटतर है—छायावादी कविता में—उसमें भी पंत में यह प्रवृत्ति बहुत कम थी। 'चावलों की सूरत पर मुफलसी बरसती है' (सरदार जाफरी) जैसा खुरदरापन उस युग की कविता में ही कम मिलेगा—विशेषकर खुरदरी जमीन पर पंत का सुकुमार व्यक्तित्व और भी नहीं टिक पाता है। पंत की भाषा में भी 'उजरी', 'स्वरग', 'चन्दिरा' जैसे प्रयोग मिल जायेंगे यद्यपि भाषा की आंचलिकता मे उनका विश्वास नहीं रहा है। वर्ड्सवर्थ ने एक बार कहा था कि 'कविता की भाषा बोलचाल की भाषा के निकट होनी चाहिए।' रचनाकार अमृतराय से हुई अपनी बातचीत के दौरान पंत इसके विरोध में कहते हैं कि 'कवि की दृष्टि में, उसकी कविता में एक विशेषता होती है और वह बोलचाल की भाषा के भीतर आ ही नहीं सकती।' इसलिए वह संस्कृत के थोड़े बहुत आधार के पक्ष में हैं। तात्पर्य

यह कि कविता की भाषा के प्रति पंत की एक निश्चित दृष्टि है जिसने उनकी रचना को प्रभावित किया है।

'ग्राम्या' की ही एक अन्य रचना है 'रेखाचित्र'। —दूर तक फैले समस्त दृश्य को अपनी पूरी विविधता, रंगों-छायाओं में देखता हुआ कवि रेखांकित करता चला जाता है। पंत इसमें न केन्द्रहीन लगते हें, न तटस्थ दृष्टा! इस तरह के रेखाचित्र तो आगे चलकर रामविलास शर्मा और केदारनाथ अग्रवाल में मिलते हैं—भूदृश्य सरीखे रेखाचित्र इस कविता का अन्त निर्जीव रेखाचित्र में भी जान डाल देता है—

सांझ,—नदी का सूना तट
मिलता है नहीं किनारा।

कवि की आत्मीयता, मनःस्थिति पूरे रेखाचित्र से जुड़ जाती है, साथ ही आरम्भ से अन्त तक एक कसावट। शायद इसीलिए शमशेर बहादुर सिंह ने 'ग्राम्य' के पंत के बारे में कहा है कि 'उसकी उंगलियों में जरा भी कंपन नहीं; बल्कि एक सिद्ध कुशलता-सी लिए हुए उनमे एक स्वस्थ गुदगुदी है जो कही सरल है, कहीं सहज ही क्रूर और कहीं स्वभावतः कौतुक पूर्ण; पर एक स्वस्थ, निश्छल उत्साह उनमें प्रतिक्षण छिपा हुआ है।'

इलियट कहता है कि 'कविता में अक्सर वह कहना असंभव होता है जो कवि कहना चाहता है।' अच्छी कविता की कसौटी असंभव को संभव बनाने मे है। पंत की बहुत सारी और चिर-परिचित कविताओं मे आनावश्यक विस्तार या उलझाव मिलता है लेकिन उनकी उत्तरकालीन रचनाओ में विशेषकर 'वाणी' काव्य-सग्रह मे सभी कविताये एक ही मनःस्थिति की होते हुए भी कुछ छोटी-छोटी कविताये काव्यात्मक स्तर पर द्रष्टव्य हें जैसे 'अनुभूति' शीर्षक रचना—

अमित नील से बरस रही हँस
फालसई जल फुही
भींग रे गए नयन मन!

एक ही कविता मे समान पंक्तियों मे शब्द को बदलकर मन की स्थिति के बदलने का संकेत देने की कला पंत में है। पहले वह 'जल फुही' है अंत में वही 'रस फुही' हो जाती है। पहले 'नयन मन' भींगे थे, अन्त में 'प्राण मन' उसमें डूब जाते हें। शब्द परिवर्तन का यह स्वरूप कई कविताओं में है—

शरद आ गयी
श्वेत कृष्ण बलाकों की
मदिर चितवन लिए,—
शरद छा गयी

शरद का 'आना' एक क्रिया है, स्वागत का विषय है; उसका 'छा जाना' एक अमिट प्रभाव है। जब बाह्य विधान सीमित और वाग्जाल लगने लगता है तब पंत के शब्द

भी शब्दगत सीमा को लांघकर अपना विस्तार कर लेते हे। निश्चय है कि अर्थ-व्यंजना काव्य-सौंदर्य को बढ़ाती है। 'स्मृति गीत' मे पंत कहते है—

आकुल स्वर लहरी आती है।
दूर, सुनहली छाँहों में छिप
काम श्याम कोयल गाती है।

यहाँ कोयल के साथ 'काम श्याम' शब्द-प्रयोग ध्यान देने योग्य है—कामना-जगत् से कोयल का संबंध। लगभग इसी को स्पष्ट करते हुए वह अंत में प्रयोग करते हैं—

मुग्ध प्रीति की चिनगी कोयल

पंत की भाविक संवेदना निराला की तरह अनेकस्तरीय और सूक्ष्म नहीं है लेकिन 'चिनगी' शब्द में यहाँ स्वतःस्फूर्त शब्द-संवेदना है। वह अपनी संक्षिप्तता और स्वर माधुर्य में अर्थ-संभावना भी लिए हुए है। कामना की अग्नि में जलकर हुई काली कोयल के मन में भी 'चिनगी' है—अपनी स्वरतुलहरी से वह दूसरों के हृदय में भी 'चिनगी' पैदा करती है। शब्द की अर्थवत्ता उसकी सजीवता में है। निश्चय ही यह पंत का अनुभूत शब्द है। शब्द की सूझ और अभिव्यक्ति का तीखापन देखना हो तो 'नम्र अवज्ञा' रचना को लें। कविता की सारी बाहरी सीमाओं की जैसे उपेक्षा करता हुआ कवि पूरे आत्म-विश्वास से लिखता है—

वे कहते
मैं भाव नहीं, केवल प्रभाव हूँ
सूझ नहीं, केवल सुझाव हूँ
सच यह,
मैं केवल स्वभाव हूँ।

सारे आरोपों का उत्तर देते हुए वह कहते हैं—

वे कहते :
मैंने प्रकाश को ग्रहण किया
इससे......उससे....
जिससे.....तिससे ...
किससे......किससे !

लेकिन आरोप लगाने वाला आलोचक स्वयं अपनी सीमाओं को किस तरह छिपा जाता है उसका नमूना—

सच यह
स्वयं नहीं छू पाए वे प्रकाश को,
उसे समझते वे
इससे..... उससे....

जिससे......तिससे....
औ जाने किससे....किससे!
अधिक क्या कहूँ?—सत्य गूढ़।
पर, सबसे भले विमूढ़!

इतना अच्छा व्यंग और शब्दों के बीच के रिक्त स्थान और झटके से उत्पन्न होती हुई नाटकीयता का उदाहरण यह पंत-काव्य में अकेला है। शब्द का संगीत अर्थ की लय में गुम हो गया है। डब्लू. एच. ऑडेन ने भले ही अपनी कही हुई बातों को समय-समय पर नकारा हो लेकिन फिर भी उसकी एक बात ने ध्यान आकर्षित किया। एक बार उससे पूछा गया कि तुम एक अच्छा कवि होने के लिए क्या सलाह दोगे? ऑडेन ने कहा कि पहले मैं पूछूँगा कि तुम कविता क्यों लिखना चाहते हो? अगर उत्तर मिला कि इसलिए क्योंकि मुझे कुछ महत्वपूर्ण कहना है। तो मैं निष्कर्ष निकाल लूँगा कि वह कवि नहीं हो सकता लेकिन अगर उसने उत्तर दिया कि इसलिए क्योंकि मैं चारों ओर से शब्दों से घिरा होकर उन्हें एक दूसरे से बात करते हुए सुनना-समझना चाहता हूँ तो वह कवि बनने की आशा कर सकता है क्योंकि आखिरकार वह कविता की रचना-प्रक्रिया के महत्वपूर्ण भाग में रुचि रखता है। ऊपर के उदाहरण में पंत शब्दों को बात करते हुए सुन रहे हैं। पंत की अधिकांश बाद की रचनाएं 'धरती अब भी लट्टू सी घूमती है तो क्या? हम बड़े हो गए हैं'—के स्पष्ट स्वर से युक्त हैं लेकिन कुछ में अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनों के स्तर पर पंत का खुलापन मन को छू जाता है। ये शैली की दृष्टि से ठोस, परिपक्व और समर्थ कवितायें हैं। 'कोपलें' शीर्षक का आरम्भ—

आज कोई काम नहीं—
सोने के तार-सा खिंचा
प्यारा दिन है।

पढ़कर पंत के 'नएपन' की अनुभूति होती है। कुछ ऐसी ही बात उर्दू शायर ने कही है—

तुझसे छुटके बड़ी फरागत है
अब मुझे कोई काम-काज नही।

कुछ दूर तक पंत की यह कविता बड़ी व्यवस्थित है यद्यपि विशेषणों और उपमाओं की भीड़ यहाँ भी है जैसे कोपलों के लिए ललछौंही, स्वप्न-भरी, रतनार चितवन-सी, शुभ्र पीत चिनगियों-सी, रेशमी मूँगी, रूपहले-सुनहले इंगितों-सी आदि-आदि। रूपहले-सुनहले, मोतिया, सोपिया, मुक्ताभ, चंपई, रजत-स्वर्णिम ये पंत के बड़े प्रिय शब्द हैं। कुछ असाधारण कहने का लोभ भी उनमें बराबर रहा है। 'वरदान' कविता की आरंभिक पंक्तियाँ अपने सक्षेपन का उदाहरण प्रस्तुत करती हैं—

सीमा और क्षण को
खोज कर हार गया
कहीं नहीं मिले!

लेकिन आगे चलकर जब वह सूक्तियों में, उद्धरणों में, व्याख्यान की शैली में बोलने लगते हैं तो एक सर्जनात्मक अनुभव भी स्थिर और शून्य रह जाता है। पंत की कविताओं में यह खो देने और खोकर कुछ पा लेने का जो निश्चित क्रम निरंतर दिखायी देता है, वही अच्छी से अच्छी कविता को ठेस पहुंचाता है। लेकिन 'बाह्य बोध' शीर्षक कविता बहुत छोटी—बहुत बंधी हुई कही जा सकती है—

तुम चाहते हो
मैं अधखिली ही रहूँ!
खिलने पर कुम्हला न जाऊँ,
झर न जाऊँ!
हाय रे दुराशा!
मुझमें
खिलना
कुम्हलाना ही
देख पाए!

यहाँ प्रयोगशीलता की ओर पंत का झुकाव भी है और कविता अपनी सादगी में सीधे मर्म को छूती है—संभावनाओं के निकट ले आती है।

वस्तुतः टुकड़ों में पंत को देखना हो तो कई अच्छे स्थल, अच्छे प्रयोग मिलेंगे जैसे 'मैंने हिमालय के शुभ्र श्वेत मौन को फूंका'—मौन को भेदना नहीं फूंकना। इसी तरह 'खोज' कविता की आरम्भिक अंश—

सांझ के धुंधलके में
धीमी धीमी
टिनटिनाती घंटियों की ध्वनि
किन अनजान चरागाहों से
आ रही है?

खोजते हुए मन की, अनचेतन मन की घाटियों का संकेत 'अनजान' शब्द से, पूरे चित्र से आ जाता है। हल्के श्यामल मेघ के लिए 'धुंली अंधियाली के रेशमी कुंतल' कहना या प्रकाश को 'अंधियाली के वृन्त पर कांपती सुनहली धान की बाली-सी' कहना उनकी कल्पना प्रवणता के अच्छे उदाहरण हैं। लय, गीत, ताल में कविता को बांधने के प्रयोग भी पंत ने किए हैं जैसे

हंसते भू के अंग अंग
हरित हरित रंग।

भजन-कीर्तन की धुन पर भी उन्होंने लिखा है जैसे—

मीठे स्वर में बोल
मुरलिके, मन की गांठें खोल।

(बाबा मन की आंखें खोल की नकल पर) कुछ में नवगीत जैसा शब्द समूह और लय, जैसे—

सोनजुही की बेल नवेली
आंगन के बाड़े पर चढ़कर
दारु खंभ को गलबाँही भर
कुहनी टेक कंगूरे पर
वह मुस्काती अलबेली
दुबली पतली देह लतर, लोनी लंबाई
—प्रेम डोर-सी सहज सुहाई।

कुछ बोलने के स्वर में लिखी गयी कवितायें भी हैं—जो अपने प्रवाह में सुन्दर हैं, जैसे 'सन्देश'—

मैं खोया खोया-सा, उचाट मन, जाने कब
सो गया, तरवर तर लुढ़क, अलस दोपहरी में,
जब सहसा आंख खुली तो मेरी छाती पर
था असंतोष का भारी रीता बोझ जमा।
मैं सोच रहा था, जाने क्या हो गया मुझे,
मन किन अनजानी डगरों में है भटक गया
इतने में मेरी दृष्टि पर जा अटकी,
जिस पर जाड़े की चिट्टी, ढलती, नरम धूप,
खिड़की की चौखट को कुछ लंबी तिरछी कर
थी चमक रही टूटे दर्पण के टुकड़े-सी,—
मैं क्षण भर मे मन के विषाद को भूल गया।

यह सत्य होते हुए भी कि पंत का काव्यजगत् अपने में सीमित, आत्मकेन्द्रित है, या वह आत्मतुष्ट कवि हैं। हिन्दी काव्य में उनके व्यक्तित्व को, उनके काव्य की देन को सर्वथा नकारकर आगे नहीं बढा जा सकता, जैसा कि कुछ आलोचक व्यक्तिगत रुचि-अरुचि के आधार पर करते हैं। हिन्दी काव्य में नया युग, युगान्तकारी परिवर्तन लाने में उनका अपना बहुत योग है। खड़ी बोली भाषा का रूप बदलने-बनाने में और कविता को बाह्य स्थूल चीजों से मुक्त करके आन्तरिक सौन्दर्य की ओर ले आने मे उनका बड़ा हाथ है। पंत को प्रायः क्रमिक रूप से विकसित होते हुए कवि के रूप में टुकड़ों-टुकड़ों में विभक्त करके देखा गया है जो एक गलत दृष्टि है। पूर्वाग्रहों को छोड़ दें और पंत को युग और समय के साथ देखने की सही कोशिश करें, साथ ही उनकी बहुत-सी अर्चाचित कविताओं के आधार पर पंत पर पुनर्विचार करें तो उनमें भी अनुभूति की सघनता, शब्द की अर्थ-व्यंजना, आत्मीयता और प्रयोगशील प्रवृत्ति को अपने सही रूप में पहचाना जा सकता है। सवाल कवि से सहानुभूति विशेष का नहीं है, सवाल पूर्ण समीक्षा-दृष्टि का और हिन्दी काव्य के ऐतिहासिक संदर्भ में और रचनात्मक शक्ति के रूप में पंत की वास्तविकता को पहचानने का है। कोई भी आलोचना अंतिम आलोचना नहीं होती।

उर्दू भाखा में 'सुदामा चरित्र'

रहमतउल्लाह

हिन्दी कविता में नरोत्तमदास द्वारा विरचित 'सुदामा चरित्र' की कतिपय पंक्तियां प्रायः सभी लोगों ने पढ़ी होंगी और सम्भवतः उसके महत्त्वपूर्ण एवं मार्मिक स्थल कंठस्थ भी होंगे। यह ब्रजभाषा में लिखा गया कथात्मक खंड काव्य है जो प्रश्नोत्तर के रूप में है। इसके अतिरिक्त उर्दू भाखा में भी 'सुदामा चरित्र' नाम से एक 'एकार्थ काव्य' रचा गया है। इसमें एक सम्बद्ध दीर्घ कविता के माध्यम से सुदामा के जीवन की सम्पूर्ण कहानी व्यक्त की गई है।

इसमें कुल १११ छन्द अथवा द्विपदियां है और अन्त में छः द्विपदियों की एक गजल है। इसके रचयिता मराठा कवि आनन्द दास हे। ये पूर्वी महाराष्ट्र के रहने वाले थे और दकनी राज्यो की भाषा से प्रभावित थे। कवि दकनी भाषा में रची गई प्रेम-गाथाओं से और उनकी शैली से भी परिचित था। काव्य में इसकी रचना लिथि नहीं दी है किन्तु इसको बम्बई के विद्या भण्डार, नारायण प्रेस से अगस्त सन् १८८४ ई० अथवा १८०६ शक सम्वत् में प्रकाशित किया गया था। यह प्रकाशन भी खराब कागज पर है और मुद्रण कला की प्रारम्भिक अवस्था का द्योतक है। इसका शीर्षक 'मनोवेधक सुदामा चरित' काव्य के आरम्भ मे ही दिया गया है। इसका सम्पूर्ण पाठ उर्दू, गुजराती और देव नागरी तीनों लिपियों मे एक साथ प्रकाशित किया गया है। काव्य के दो भाग हें। प्रथम भाग में अरबी, फारसी के कठिन शब्दों की सूची और उसका हिन्दी में अर्थ स्वयं कवि द्वारा ही दे दिया गया है। इसके अतिरिक्त महाराष्ट्री प्राकृत के लगभग ४१ कठिन शब्द और उनका अर्थ भी है। दूसरे भाग में काव्य का मूल पाठ दिया गया है। यह दुर्लभ काव्य सुदामा और श्रीकृष्ण के घनिष्ठ सम्बन्धों पर पूर्ण प्रकाश डालता है। कुछ लोग इस काव्य की कथा पर नरोत्तम दास के 'सुदामा चरित', का प्रभाव स्वीकार कर सकते हें किन्तु ऐसा निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है। नरोत्तम दास और 'सुदामा चरित्र' उस समय तक विशेष प्रसिद्ध नहीं हुए थे। अतः उसके प्रभाव को निश्चित रूप से नहीं माना जाना चाहिये। दोनों की शैलियों, भाषा, भाव आदि में पर्याप्त अन्तर भी है।

यह काव्य बहुत ही जीर्ण-शीर्ण अवस्था में बम्बई के एक प्रसिद्ध पुस्तकालय के रद्दी-खाने मे प्राप्त हो गया था। अपनी शोध के सम्बन्ध में बम्बई के भ्रमण काल में मैंने उसको प्राप्त किया था और इसका सम्पूर्ण पाठ सावधानी से लिख लिया है। कहीं अन्यत्र काव्य का पता नहीं चला, उसका मिलना भी सम्भव नहीं है। इसके प्रारम्भ और अन्त के अंश के कदाचित प्रक्षिप्त होने का अनुमान लगाया जाता है। इसको लोक मंगल की भावना से प्रेरित होकर लिखा गया है।

इसकी रचना फारसी की मसनवी काव्य-परम्परा से प्रभावित होकर की गई है। इसको विभिन्न शीर्षकों में विभाजित किया गया है। इनमें आगे आनेवाली घटना की सूचना दे दी गई है। मसनवी परम्परा की प्रारम्भिक स्तुति खंड का विधिवत् पालन न करके केवल ईश वन्दना की गई है। उसकी शैली भी फारसी मसनवियों की भांति है। परमात्मा को इस्लामी विशेषण दिये गये हैं और उसको समस्त सृष्टि का कर्ता माना गया है। इससे कवि का ईश्वर सम्बन्धी दृष्टिकोण व्यक्त होता है।

काव्य में वर्णित ईश्वर सम्बन्धी कवि का दृष्टिकोण :—इसके लिये कतिपय वन्दना की पंक्तियां दृष्टव्य हैं—

अजब है गुरुजी वोही कार साज । खलक बीच म्याने वो ही बेनायाज।
वोही है करम बख्श साहेब धनी । उसी को कहे कुल्ले आल्म गनी।
उसी ने बनाया जमीन आसमान । पवन आब आतश बनाया मकान।
सरग भिस्त पाताल ये हूं भी है तिनो । हरिहार ब्रह्मा कहे लावे जिनो।

इस सृष्टि के साथ ही उस सर्वशक्तिमान कर्ता ने माया जाल का भी निर्माण किया है, जिसके प्रभाव से मानव अपने को नहीं बचा सका और उपासना मार्ग से भटक गया। ऐसी स्थिति में उसको स्वयं ईश्वर, धर्म एवं उपासना मार्ग का कुछ भी ज्ञान नही रह गया। कवि का विचार है कि यदि मानव परमात्मा की बन्दगी करता रहे तो उसकी सारी यातनायें दूर हो जाएँ और इससे लौकिक एवं पारलौकिक उपलब्धि होती है। कवि स्पष्ट रूप से कहता है—

जबरदस्त माया लगाई पिछे । अवर जाल कर कर भुलाया उसे।
हमेशा फिकर पेट की है लगी । जिकरयाद मौला नही बंदगी।
गुनहगार बन्दा फिरे दरबदर । गिरफ्तार होकर हुवा बेखबर।
किधर दीन दुनिया किधर है खुदा । सबब पेट के माँगता है गदा।
अगर उस खुदा की करो बंदगी । मिले रोज न्यामत कटे गंदगी।

कथान्त में कवि ने अल्लाह, हरी, निरंजन, घनश्याम आदि को समान मानते हुए उसी को लौकिक-पारलौकिक सुख का साधन और सभी गुणों का आधार बताया है। कवि कहता है—

अलहक नाम अल्ला निरंजन हरी है। निरंकार नरगिस वह पर मीसरी है।
सिफत उसको हरशं मे दायम भरा है । वह गंगा व जमुना वह गोवा वही है।
समा सिफत कर जो कि घनश्याम है। उसी शाम के संग आराम है।
सया शाम से हमको निसकाम है । हमे ध्याइयां उसका सुबह शाम है।
वही गुल वही मल वही जाम है। वही साक्तिया वज्मगुलकाम है।

अन्त में गजल के अन्तर्गत कवि ने अपना दार्शनिक मत व्यक्त कर दिया है। इसमें परमात्मा को अद्वैत, द्वैत और द्वैताद्वैत रूप में देखा गया है। निराकार-साकार दोनों

रूपों को एकाकार करके उसको सर्वशक्तिमान और सर्वव्यापक बना दिया गया है। कवि कहता है—

यार को हमने जा बजा देखा। कहीं जाहिर कहीं छिपा देखा।
कहीं हुआ बादशाह तख्त नशीं। कहीं कास लिये गदा देखा।
× × × ×
कहीं वाजिब बना कहीं मुमकिन। कहीं फानी कहीं बपा देखा।
कहीं जाहिद बना कहीं आबिद। कहीं जिन्दो का पेशवा देखा।
कहीं आशिक नमाज को सूरत। सीनाबरियां वदिल जला देखा।

काव्य मे व्यक्त गुरु के प्रति कवि का दृष्टिकोण :—मसनवी परम्परा के अनुसार स्तुति खंड में गुरु को प्रशंसा और परिचय न देकर काव्य के अन्त मे उनके सम्बन्ध में अपनी मान्यता व्यक्त की है। कवि सद्गुरु के स्मरण और सहायता को विशेष महत्व देता है। उसी के द्वारा मानव को सत्य पथ की प्राप्ति होती है। कवि ने गुरुजी की कृपा से ही इस काव्य की समाप्ति की है और अपने को गुरु के चरणों की रज कहा है। उपासना मार्ग में उसके महत्व को स्वीकार करते हुए कवि कहता है—

सद्गुरु सुमिरन से कोई ना रहे। जगत मे सदा सुख पाता रहे।
सुदामा हमेशा भजन में मगन। सद्गुरु के चरन से लगाया लगन।
बनाया चरितर सद्गुरु के जो नाम। उसी के मेहर से हुआ है तमाम।
हमेशा सिफत सद्गुरु की सुनाव। कहे 'दास आनन्द' में खाक पाव।

काव्य का कथा सारांश :—सुदामा एक सच्चे भक्त थे। वे टूटी-फूटी झोपड़ी में दयनीय जीवन व्यतीत कर रहे थे। शीत गर्मी और वायु से उत्पन्न कष्ट को सहते हुये भी उपासना मे लीन रहते थे। कभी-कभी उनको उपवास भी करना पड़ता था। शरीर पर फटा हुआ वस्त्र भी नहीं था। घर मे एक साबित लोटा नही रह गया था। पारिवारिक संकटों के बावजूद भी वे रात दिन कृष्ण के गुणों का गान करते हुये भौतिक जीवन से निश्चिन्त रहते थे। रात में भी उन्हीं की चर्चा अपने घर में किया करते थे। कृष्ण के ऐश्वर्य और सम्पन्नता का गुण गाया करते थे। उनके परिवार के लोग कृष्ण के सम्बन्ध में कुछ नहीं जानते थे और बार-बार उनका परिचय पूछते थे। एक दिन सुदामा ने कृष्ण के पास जाने को घोषणा की। उनकी पत्नी ने पड़ोस से तीन मुट्ठी चूड़े लाकर दिया। एक फटा हुआ वस्त्र पहनकर और फटे हुये वस्त्र मे चूड़े बांधकर प्रातः काल कृष्ण का स्मरण करते हुये घर से चल पड़े। मार्ग में उनको सभी प्रकार की सुविधायें मिलती गईं। बन में उनको पानी के घड़े और घोड़े मिलते रहे जिससे उनको सारी चिन्ता दूर होती गई। उनको मार्ग का कुछ भी पता नहीं चला। इस प्रकार वे द्वारिका नगर में पहुंच गये। जहाँ परम ब्रह्म रूपी कृष्ण विराजमान थे।

द्वारिका नगर बड़े-बड़े सुन्दरभवनों से सुशोभित हो रहा था। चारों ओर पूर्ण वैभव का वातावरण छाया हुआ था। वहाँ की गरिमा देखकर सुदामा को बहुत आश्चर्य भी

हुआ। वे द्वार पर आकर खड़े हो गये। द्वारपाल के पूछने पर उन्होंने अपना नाम बताया और कृष्ण के पास अपना समाचार भेजा। द्वारपाल को उनकी दयनीय स्थिति और कृष्ण के सम्बन्ध को जानकर बड़ा आश्चर्य भी हुआ, किन्तु उनके आगमन का समाचार बता दिया। उनका नाम सुनते ही कृष्ण जी सुदामा के पास आ गये और उनको हृदय से लगा लिया। उनके नेत्रों से प्रसन्नता के आंसू प्रवाहित होने लगे। हाथ पकड़कर महल में ले गये और तख्त पर बिठा दिया। सभी प्रकार की सुन्दर स्वादिष्ट एवं प्रशंसित मिठाइयां जलपान के लिये मंगाईं गईं। रुक्मिणी तथा अनेक सहेलियों ने सामने आकर उनकी आरती उतारी। इस अनोखे दृश्य को देखने के लिये अपार जन समूह उमड़ पड़ा था। कृष्ण ने उनका पैर धोकर पान किया और सभी को पान कराया। नाई बुलाकर उनका बाल बनवाया और गरम पानी से उनको भली प्रकार स्नान कराकर के पीताम्बर पहना दिया।

इसके बाद महल में अनेक प्रकार के पकवान भोजन तैयार कराये गये। सोने की थाली में भोजन लाया गया। अनेक प्रकार के पकवान भी लाये गये। यहाँ कवि ने नाम परिगणन प्रणाली अपनाई है और अनेक प्रकार के पकवान, मिठाइयों और स्वादिष्ट भोजनों का नाम विस्तार से गिनाया है। सहेलियों ने उनको पंखा झला और सुगन्धित जलपान कराया। सुदामा सभी प्रकार से संतुष्ट हो गये। इसके बाद उनको सिंहासन पर बिठाया गया। वहाँ उपस्थित दर्शक समुदाय को पान, सुपारी लवंग और मिठाई बाँटी गई। इससे अन्य लोग भी संतुष्ट हो गये। सभी आवश्यक कार्य समाप्त हो जाने के बाद केवल कृष्ण और सुदामा ही एकान्त में रह गये। वहाँ दोनों ने एक दूसरे से अपना निजी समाचार कहा। दोनों ने उज्जैन नगर में गुरु के आश्रम में विद्याध्ययन का विशेष स्मरण किया। उस समय के विशेष संस्मरण से दोनों प्रसन्न हुए। कृष्ण ने फटे वस्त्र से चूड़ा छीनकर दो मुट्ठी खा लिया किन्तु तीसरी को रुक्मिणी ने रोक दिया। इसके बाद कृष्ण ने विश्वकर्मा को बुलाकर उनके कान में 'सुदामा' नगर के निर्माण का आदेश दिया जो सभी प्रकार से द्वारिका के समान होना चाहिये।

यहाँ कवि ने नाम परिगणन प्रणाली का पालन करते हुए सभी प्रकार के भावों का वर्णन किया है। उस नगर को अनेक प्रकार के वैभव से अलंकृत किया गया था। इस नगर निर्माण और उसके वैभव की सूचना सुदामा को न थी। प्रकट रूप से उनको कुछ भी नहीं दिया गया था। सुदामा पश्चाताप करते हुये घर लौट आये। उनको कृष्ण द्वारा कुछ न दिये जाने पर दुख भी हुआ। उन्होंने सोचा कि मैंने जीवन भर उनकी बन्दगी की और अनेक प्रकार से उनका गुणगान करता रहा किन्तु कृष्ण ने उनके साथ कुछ भी नहीं किया। वे अनेक प्रकार से अपनी असफलता पर पश्चाताप करते रहे।

जब वे अपने नगर में आये तब उनको दूसरी द्वारिका देखकर आश्चर्य हुआ। वे उस नगर के वैभव को देखते रहे। उनके आगमन की सूचना पाकर नौबत बजने लगी और उनके लिये हाथी लाया गया जिसको देखकर वे बहुत प्रसन्न हुये। उनका स्वागत

एक राजा की भांति किया जा रहा था। वे महल में प्रवेश करते हैं, यहाँ उनका उसी प्रकार स्वागत किया गया जैसा द्वारिका में हुआ। इस समस्त वैभव का रहस्य उनकी पत्नी ने स्पष्ट कर दिया। इसके बाद सुदामा कृष्ण के लिये प्रयुक्त कठोर शब्दों के प्रति पश्चाताप करते हुये पुनः उनकी बन्दना करने लगे और उनको नमस्कार किया। यहाँ उनको अपनी व्यक्तिगत उपासना से सन्तोष हुआ। गुरु की प्रशंसा और महिमागान से कथान्त कर दिया गया है।

काव्य की भाषा :—उर्दू भाषा के निर्माण काल में उसको हिन्दी, हिन्दुई, हिन्दवी दक्खिनी, दकनी, गुजराती, पंजाबी, रेख्ती, उर्दू आदि नाम दिये गये थे। इस नव-निर्मित भाषा मे प्रारम्भ मे ही पर्याप्त साहित्य लिखा गया था। इस 'सुदामा चरित्र' काव्य की भाषा उसी प्रारम्भिक काल की है। इसीलिए इसमे महाराष्ट्रीय प्राकृतिक, अरबी, फारसी के शब्द पर्याप्त सख्या मे प्रयुक्त हैं। स्थानीय बोलियों के भी शब्द हैं। अरबी-फारसी के सरल शब्दों को उनके मूलरूप में ही प्रयुक्त किया है। कठिन शब्दों का रूपान्तर कर दिया गया है। 'आजमाइस को ऑजमास' 'बेवकूफ को बेकुब, 'तकाजा का तगादा, 'परहद' को पड़दा, मसाजेद को 'मशोद, 'तरबियत' को 'तरबेद' तथा 'खेर आफियत' को 'खिराफ्त' रूप मे प्रयुक्त किया गया है। कहीं कहीं दकनी हिन्दी के अनुसार शब्दों को लिया गया है। 'कमे' को 'कम्', 'कुछ' का 'कछू', 'अभ्ने' को 'अभू' आदि प्रयोग सहज ही मिल जाते हैं। शीघ्र के लिये प्रायः सभी दकनी कवियों ने शिताबे का प्रयोग किया है। इस काव्य में भी इसी का प्रयोग है।

कवि ने इसकी भाषा को उर्दू कहा है। इसकी भाषा प्रारम्भिक काल की है। चाहे जो भी हो भाषा रूप बोधगम्य और मनोहर है। भाषा का झुकाव दक्खिनी हिन्दी की अपेक्षा उर्दू की ओर अधिक है। आधुनिक भाषा समस्या के लिये इसको आदर्श कहा जा सकता है। कवि का भाषा पर पूर्ण प्रभाव प्रकट होता है। उर्दू, हिन्दी, गुजराती मराठी भाषा-भाषियों के लिये इसकी रचना की गई है। अपने इस प्रयास में कवि पूर्णरूप से सफल हुआ है। ऐसे दुर्लभ काव्य के प्रकाशन का महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व हिन्दी की साहित्यिक संस्थाओं पर ही है। आशा है निकट भविष्य मे ऐसे काव्यों के प्रकाशन की समुचित व्यवस्था होगी और पड़े गिरे अमूल्य रत्न पुनः सामने आकर हिन्दी भाषा और साहित्य का गौरव बढ़ायेंगे।

हिन्देशिया और उसका कविसाहित्य : एक परिचय

श्रीधर पाठक

एशिया एवं आस्ट्रेलिया महाद्वीपों के मध्य उत्तर में दक्षिण चीन-सागर तथा दक्षिण में हिन्द महासागर से घिरा पश्चिम में मलय प्रायद्वीप से पूर्व की ओर न्यूगिनीतक द्वीपों का जो विस्तृत समूह है वह हिन्देशिया कहलाता है। इस द्वीप शृंखला मे सुमात्रा, जावा, बालि, लोम्बोक, सुम्बव, फ्लोरेस इत्यादि ६००० से भी अधिक छोटे-बड़े द्वीप समूह हैं। इनके कुछ दक्षिण में दो महत्त्वपूर्ण द्वीप सुम्ब और तिमोर हैं तथा उत्तर में बोर्नियो, सिलीबीस और मलक्का उल्लेख्य है। विश्व की इस महान द्वीप शृंखला की लम्बाई पश्चिम से पूर्व ३००० मील है। हिन्देशिया (अं०-इण्डोनेशिया-इण्डियन-एशिया) का तद्देशीय नाम नूसान्तर (नूस-द्वीप, अन्तर-समूह) है, इसे द्वीपान्तर भी कहा गया है। भारत और हिन्देशिया का सम्बन्ध उतना ही प्राचीन है जितना कि वहां का कोई भी ज्ञात इतिहास। ठीक-ठीक ज्ञात नहीं कि सम्बन्धवर्धन की नींव किसने रखी थी। हिन्देशिया की अनुश्रुतियों के अनुसार सर्वप्रथम 'अजिशक' के नेतृत्व में महाभारत काल मे कुछ वीरों ने जो अस्तिन् (हस्तिनापुर) पर शासन करते थे, यवद्वीप पर (जावा-हिन्देशिया का एक अंग) पर पदार्पण किया।[1] बाद में गुजरात और कलिंग[2] से भी कुटुम्ब समूहों का आगमन हुआ। सिल्वांलेवी ने विद्वानों का ध्यान इस तथ्य की ओर आकर्षित किया कि भारतीय साहित्य में सर्वप्रथम रामायण मे यव द्वीप (जावा) का उल्लेख आया है।[3] अब विद्वानों मे प्रायः सहमति है कि भारत से सुदूरपूर्व मे जानेवालों में मछुआरे, अपराधी, राज्यच्युत राजवंश, साहसी अभियात्री तथा व्यापारी प्रथम थे।[4] वहाँ की देशी संस्कृति के तत्वों को इन्होंने अपनी संस्कृति में आत्मसात् कर लिया। भारतीय प्रभाव से स्थानीय संस्कृति संघर्ष कर सकने और अपना अलग अस्तित्व बनाये रख सकने में असमर्थ रही। परिणामस्वरूप वहाँ के भूगोल और प्रकृति के अतिरिक्त प्राचीन हिन्देशिया में ऐसा कुछ भी न था जो भारतीय न रहा हो अथवा पर्याप्त सीमा तक भारत-प्रभावित न रहा हो। इस द्वीप समूह के एक मुख्य भाग, जो सभ्यता एवं संस्कृति का पुरःसर

---

१. रैफल्स, हिस्ट्री आव् जावा, पृ० ८७; मजूमदार, र० चं०, सुवर्ण द्वीप, ढाका, १९३५ पृ० ९४।

२. रैफल्स—उपर्युक्त पृ० १३, मजूमदार,—उपर्युक्त, पृ० ९५।

३. यत्नवन्तो यवद्वीपं सप्त राज्योपशोभितम्।
सुवर्णरूप्यक द्वीपं सुवर्णाकरमण्डितम्।। वाल्मीकि रा० २।११।।
हरिवंश, क्षेमेन्द्र की रामायण मंजरी और सधर्म संव्युपस्थान में भी इस श्लोक को उद्धृत किया गया है।

४. मजूमदार, र० चं०—एन्शयन्ट इण्डियन कालोनीज़०—चम्पा, लाहोर, १९२७ पृ० ११ और आगे।

केन्द्र था, यव द्वीप में व्यवहृत भाषा ही प्रायः अपने प्रारम्भिक रूप में सम्पूर्ण द्वीप समूह में सम्पर्क भाषा के रूप मे मान्य थी। इस भाषा में १५ वीं शती के रूपों को कवि भाषा कहा जाता हे। १५ वीं शती के बाद इस भाषा में परिवर्तन आया। इस परिवर्तित कवि भाषा को मध्य जावानी कहा गया। १९ वीं, २० वीं शती के इसी के विकसित रूपों को नव जावानी कहा जाता है। बहासा इण्डोनेशिया, जो वहाँ की राष्ट्रभाषा है, इण्डोनेशिया में सर्वाधिक बोली जानेवाली मलय भाषा है।

कवि भाषा का विशाल वाङ्मय भारत के लिए बन्धु साहित्य है।[६] कवि की प्राणदायिनी भाषा सस्कृत है। कवि अपनी शैली, विचार प्रणाली, धर्म, स्मृति, दर्शन, उपाख्यान, नीति इत्यादि नानाविध शाखाओ में संस्कृत से पोषण प्राप्त करती रही है। सस्कृत शब्दों को इसने अपने उपसर्ग, मध्यवर्ग और प्रत्यय लगाकर स्वयं में आत्मसात कर लिया। भाषा में---शब्द व्यवस्था, ध्वनिव्यवस्था, व्याकरण, विषय वस्तु के लिये संस्कृत पर ही निर्भर रहने के कारण इण्डोनेशिया में हिन्दू संस्कृति रगरग में समा गयी। कवि को महाभारत, रामायण, पंच तन्त्र, हितोपदेश से ही प्रेरणा नहीं प्राप्त हुई, वरन् शैव और बौद्ध दर्शनों तथा इनके पूजा सम्बन्धी साहित्य से भी कवि वाङ्मय समृद्ध हुआ। कवि भाषा का साहित्य समझने से पूर्व उत्तम होगा कि एक दृष्टि हम उससे पूर्व की भाषा पर भी डाल ले। कवि साहित्य का वास्तविक विकास ईसा की नवीं-दसवीं शती मे हुआ, इससे पूर्व हिन्देशिया में न केवल बोल-चाल वरन् साहित्य तथा राजदरबार की भाषा भी संस्कृत थी। जिसका ठोस प्रमाण है वहाँ के विभिन्न द्वीपों से प्राप्त होनेवाले संस्कृत में लिखित अभिलेखो की विपुल संख्या। लिपि शास्त्र के साक्ष्य पर इन्हें ४०० ई० के आसपास का कहा जाता है। इनकी लिपि दक्षिण भारतीय पल्लव लिपि है। इन अभिलेखों मे ज्यादा संख्या यूप लेखो की है। मलय से प्राप्त केडा : अभिलेख (५ वीं शती) बौद्ध है। जिसमें रक्तमृत्तिका के महानाविक बहुगुप्त का उल्लेख है। बोर्नियो से प्राप्त चार अभिलेख बंगाल के राजा श्री मूल वर्मा द्वारा किये गये बहु सुवर्णक यज्ञ के यूपों पर उत्कीर्ण हैं। पश्चिमी जावा' के तारुम नगरेन्द्र से पूर्णवर्मा के चार अन्य अभिलेख मिलते हैं, जिनमें से दो में राजा के पादद्वय की तुलना विष्णु के पदो से की गयी है। और एक में राजा द्वारा गोमती नदी के उत्खनन का उल्लेख है। मध्य जावा के तुकमास शिलालेख पर शंख, चक्र, गदा, पद्म उत्कीर्ण है। और मध्य मे उपेन्द्र वज्राछन्द में लेख लिखा है। इसी द्वीप से प्राप्त चंगल शैव अभिलेख (शक वर्ष ६५४ का) में जो १२ श्लोकों का है, शार्दूल विक्रीडित, स्रग्धरा, वसन्ततिलका और पृथिवी छन्दों का प्रयोग किया गया है। जावा का दिनय अभिलेख (शक वर्ष ६८२-७६० ई०) संस्कृत भाषा में है जो प्राचीन जावा की लिपि में लिखा

५. गोण्डा, जे०---संस्कृत इन इंडोनेशिया---नागपुर, १९५२

६. शारदा रानी---कवि के नीति ग्रन्थ, पृ० १९

आनेवाला प्रथम प्राप्त अभिलेख है। प्राचीन जावानीलिपि कुछ अन्तर के साथ पूर्ण तौर पर पल्लव लिपि का रूपान्तर ही है। शैलेन्द्र राजाओं ने महायान बौद्ध धर्म का प्रसार करने के लिए अपने अभिलेखों मे उत्तर भारतीय लिपियों का भी प्रयोग किया।

इत्सिग ने हीनयान की मूलसर्वास्तिवाद शाखा के अध्ययन का मुख्य केन्द्र जावा बतलाया है। यद्यपि षष्ठ शती में जब बौद्ध धर्म का प्रभाव बढने लगा, अध्ययन का एक केन्द्र सुमात्रा भी हो गया था। बौद्ध धर्म के अध्ययन प्रवचन का माध्यम यहाँ संस्कृत थी। इसी कारण द्वीपान्तर (नुसान्तर-हिन्देशिया-इण्डोनेशिया) की भाषाओं में पालि शब्दों का अभाव और संस्कृत शब्दों का बाहुल्य है।[७] ८ वीं शती से हिन्देशिया की स्थानीय भाषाओं मे अभिलेखों की प्राप्ति होने लगती है। यद्यपि संस्कृत अभिलेखों की प्राप्ति १४ वीं शती तक होती है, किन्तु संस्कृत अभिलेखों में ८वीं शती के बाद व्याकरण की शुद्धता न रह सकी। मुस्लिम आक्रमणो से त्रस्त होकर प्राचीन जावानी के हिन्दू विद्वानों ने बालि द्वीप में शरण ले ली। वहाँ उन्होंने कवि साहित्य और प्राचीन परम्पराओं को सुरक्षित रखा। कविग्रन्थों के पुराने हस्त लेख बालि लिपि में मिलते है। बालिद्वीपों में इन कवि ग्रन्थों का पाठ करने की परम्परा चली जो आज भी सुरक्षित है। कवि साहित्य के मान्य ग्रन्थ 'काकविन्' कहे जाते है। सायंकाल इन ग्रन्थों का पठन, पाठन, श्रवण, परम्परा से, आज भी जारी है। सार्वधिक लोक प्रिय ग्रन्थ 'रामायण काकविन्' और 'भारत युद्ध' है।

नवीं दसवीं शती कवि साहित्य का उत्कर्ष काल है। संस्कृत के मूल श्लोकों पर कवि भाषा मे भाष्य लिखे गये। कवि भाष्य की उपलब्ध रचनाओ में छन्दःकरण प्राचीनतम है। जिसे जूकबाल ने गलती से चण्ड किरण या छन्द किरण कहा है, 'अमरमाला' इसका एक अंग है जो संस्कृत-कवि की शैली है। शैलेन्द्र वंश के महाराजा जीतेन्द्र के काल मे इसकी रचना हुई। प्रो० क्रोम इसे ७५० से ८५० ई० के मध्य रखते है।[८] १० वीं शती में पूर्वी जावा में जब नये राज वंश की स्थापना हुई तब रामायण का कविन, महाभारत के पर्वों, शैव ग्रंथों, भुवनकोषादि, बौद्ध तन्त्र यान के ग्रन्थों तथा ब्रह्माण्ड पुराण इत्यादि की रचना हुई। ११ वी शती में जब यव द्वीप का राजा एअरलंग बना, राज कवि कण्व ने अर्जुन विवाह काकविन लिखा। ११ वीं १२ वीं शती कवि साहित्य का स्वर्णिम काल है। कडिरिके प्रसिद्ध राजाओं जयवर्ष, कामेश्वर, जयमय आदि के काल में लिखी गयी साहित्यिक रचनाओं में कवि त्रिगुण का लिखा कृष्णायन, मोनगुण की कृति भारत युद्ध, म्पुसेद की रचना हरिवंश अत्यधिक लोकप्रिय हुई। १४ वीं शती में द्वीपान्तर का सर्वोत्कृष्ट ऐतिहासिक ग्रन्थ नागरकृतागम लिखा गया। इस प्रकार १० वीं से १५ वीं के मध्य बृहत् तथा विविध विषय सम्पन्न कवि साहित्य का सृजन किया गया।

---

७. गोण्डा, जे०—उपर्युक्त, पृ० १०४

८. सरकार, हिमांशु भूषण-इण्डियन इन्फ्लुएन्स ऑन् द लिटरेचर ऑव् जावा एण्ड बालि, कलकत्ता १९३४, पृ० ४००।

कवि साहित्य की बहुत कम रचनाएं सम्पादित एवं प्रकाशित हुई।[९] अधिकांश कवि साहित्य हस्तलेखों में सुरक्षित है। कवि हस्तलेखो के उल्लेखनीय संग्रह हालैण्ड के लीडेन विश्वविद्यालय एवं बालि द्वीप के कीर्त्या संग्रहालय में हैं। इनके चित्रों का विशाल संग्रह दिल्ली के 'सरस्वती विहार' मे देखा जा सकता है। यहाँ पर बहुमूल्य मौलिक ग्रन्थ भी देखे जा सकते हैं। कीर्त्या के हस्तलेखो के सूचीपत्र में इन ग्रन्थो का सरल वर्गीकरण किया गया है।[१०] जो इस प्रकार है—

१. वेद :—शीर्षक में वैदिक मन्त्रों, पूजा मन्त्रो तथा स्तवों के १७७ हस्त लेखों के नाम दिये हुए हैं जैसे—चतुर्वेद धर्मवेद, वेद परिक्रम, वेद पुर्वक, सूर्य सेवन, पशुपति मन्त्र, पूजा भुवन शरीर, पूजाक्रम, पूजा पितृ, विष्णु जप आदि।

२. आगम :—मे धर्म शास्त्र शासन और नीतिसाहित्य सम्बन्धी ६३ ग्रन्थो के शीर्षक हैं—जैसे अधिगम, मानव शासन, सारसमुच्चय, श्लोकान्तर, धर्म लक्षण, शिव शासन, व्रतिशासन, ऋषिशासन नीतिशास्त्र, नीति प्राय इत्यादि।

३. वरिग :—म ज्योतिष, उपदेश, दर्शन, पुराण, व्याकरण, छन्द इत्यादि पर ५९२ ग्रन्थो की सूची दी हुई है। जैसे—कालचक्र, भुवनकोष, ब्रह्माण्डपुराण, दशशील, एकादश रुद्र, स्प्त प्रणव, कृतभाषा, स्वरव्यंजन आदि।

४. इतिहास :—में महाभारत के पर्व, रामायण, कार्कविन (संस्कृत छन्दों और कवि भाषा में लिखे गये काव्य) किन्दु (तद्देशीय छन्दो मे मध्य जावी मे लिखे गये काव्य) गुरितन् आदि सम्मिलित हैं। इनकी संख्या १५९ है। जैसे आदिपर्व, आश्रमवास पर्व, अगस्त्यपर्व, उत्तर काण्ड, हरिवंश, अभिमन्यु विवाह, अर्जुन सहस्रबाहु, सुमनसान्तक इत्यादि।

५. बबद—में ऐतिहासिक कृतियां तथा वंशावलिया है। इस सूचीपत्र मे ३५ ग्रन्थो का उल्लेख है।

६. तन्त्रि :—पंचतन्त्र, हितोपदेश आदि पर आधृत ९ कथा संग्रह है।

इनका विस्तृत परिचय हिमांशु सरकार ने वेद, पुराण, वरिग तथा संबन्धित साहित्य, ऐतिहासिक ग्रंथ तथा विविध शीर्षकों मे दिया है।[११] अब तक एक सहस्र से अधिक कवि स्तुतियां प्रकाशित हो चुकी हैं।[१२] यहा सक्षेप मे कविसाहित्य का परिचय संक्षेप मे दिया जा रहा है।

(१) **वेद** :—कविसाहित्य में वेद शीर्षक वाले ग्रंथ कलेवर मे लघु किन्तु सख्या में अनेक हैं। नारायण अथर्वशीर्षोपनिषद को चतुर्वेद संज्ञा दी गयी है। वैदिक मन्त्रों

---

९. विस्तृत सूचना के लिए द्रष्टव्य—अहलेनबक, इ० एम०—क्रिटिकल सर्वे ऑव् स्टडीज ऑन् द लैंग्वेजसु ऑव जावा एण्ड मदुरा, हेग (नीदरलैण्डस) १९६४।

१० Voorloping overzitcht der op balıaanwezıbe lıteratuurascht Publıshed in mededeelingen van de kırtya lıfernck Van-Der-Tou—१९२९।

११. सरकार, हिमांशुभूषण—पूर्वोल्लिखित

१२. गोक्रियन, टी—स्तुतिस्तव

में उपासना के मुख्य देवता शिव हैं। पूजा में गायत्री मंत्र का प्रयोग बहुशः करने का विधान है। वेद 'परिक्रम सारसंहिता किरण' मध्य पूजा का ग्रन्थ है। बाली-द्वीप के पुजारी अभी भी इस ग्रन्थ को आधार मानकर मुद्राओं और मंत्रों का प्रयोग करते हुए पूजा करते हैं। मुख्य देवता शिवादित्य हैं। पण्डा अर्थात् पुजारी बाह्यशुचि एवं आभ्यन्तर शुचि के अनन्तर इन मंत्रों का पाठ करते हुए 'मंत्र पूततोय' बनाते हैं जिसे वे भक्तों को देते हैं।

(२) **स्तोत्र** :—कामना की पूर्ति के लिये देवता पर दबाव डालने, प्रार्थना करने हेतु स्तोत्रों की रचना की गयी, जो एक प्रकार से संस्कृत भारतीय स्तोत्रों की नकल है। इन स्तवों के मुख्य विषय रहे हैं—शक्तिशाली देव विष्णु, शिव, यम, वरूण, कुबेर, इन्द्र, बुद्ध तथा इनके परिवार। पितरों की भी स्तुति की गयी है। विष्णु स्तव के पाठ से पितृलोक की प्राप्ति होती है। पापों से मुक्ति मिलती है, धनहीन को धन और पुत्र हीन को पुत्र प्राप्त होता है।—

अपुत्रो लभेत पुत्रम् धनहीनों धनम् लभेत्।
मुच्यते सर्वपापेभ्यो विष्णुलोकंसदाश्नुते ।।

विष्णु को गोविन्द, त्रिपुरदहन, त्रिविक्रम, केशव पद्मनाभ, मधुसूदन, वासुदेव, वाराह कृष्ण, चक्रपाणि पुरुषोत्तम आदि सम्बोधन दिया गया है। विष्णु की अपेक्षा शिव के स्तव अधिक हैं—उनमें मुख्य हैं—महादेवस्तव, शिव स्तव, गणपतिस्तव, उमास्तव, प्रणव स्तव, भैरव स्तव इत्यादि। यम राज स्तव में शिव की पचब्रह्म रूप में स्तुति की गयी है।

श्रीवास्तव मे लक्ष्मी की स्तुति धन देवी के रूप मे की गयी है। सरस्वती स्तव में देवि 'स्वर मत्रैः सुलभा' कही गयी है। इसके प्रसाद मेंही काव्य, व्याकरण, छन्द इत्यादि की सिद्धि हो सकती है। पृथ्वी स्तव मे पृथ्वी को उमा, गंगा, दुर्गा, वैष्णवी, माहेश्वरी, गायत्री, इन्द्राणी इत्यादि कहा गया है। द्वादशस्मरण स्तव मे कामदेव की स्तुति उनके अंगों सहित बड़े विस्तार मे की गयी है। 'पञ्चदश वज्रदेवता स्तुति' तान्त्रिक बौद्ध पूजा का प्रमुख ग्रंथ बन गया। एक अन्य स्तव में पांच ध्यानी बुद्धों को शैव तथा वैष्णव देवो से मिश्रित किया गया है। वरुणस्तव तथा वासुकि स्तव का पाठ मृत्यु संस्कार के समय किया जाता था।

(३) **व्याकरण, छन्द इत्यादि** :—हिन्देशिया से प्राप्त व्याकरण ग्रन्थों से यहाँ संस्कृत के अध्ययन-अध्यापन की महती परम्परा की जानकारी मिलती है। 'स्वर व्यंजन' भाषा शास्त्र का मान्य ग्रन्थ है। इसी ग्रन्थ के अन्तिम अध्याय "प्रक्रिया सन्धि" में स्वर व्यंजन एवं सन्धियों का विस्तृत विवरण है। कारक संग्रह का प्रयोग संस्कृत से बालि सिखाने के लिए पाठ्य पुस्तक के रूप में किया जाता था। 'कवि जानकी' में रामायण के मूलश्लोकों के साथ कवि में व्याख्या दी हुई है। 'कृत भाषा' ग्रन्थ एक प्रकार से संस्कृत का बृहत शब्द कोष है। इसमें प्रत्येक शब्द के प्रचलित पर्यायवाची शब्द दिये हैं। जैसे इन्द्र के लिये २९ नाम, पण्डित के लिए ५९, पक्षी के लिए २८। देवों के

नामों की सूची भी दी हुई है। संस्कृत धातुओं के रूप हस्तलेखों में सुरक्षित है। 'छन्द करण' छन्दों की विस्तृत जानकारी देनेवाला ग्रन्थ है। इसी के मध्य मे 'अमरमाला' शीर्षक मे अमरकोष (संस्कृतिकवि) है। कवि साहित्य के रचनाकारों की सहायता के लिए इसकी रचना की गयी थी। वृक्षों पर लिखा गया ग्रन्थ 'वृत्त संचय' है। जिसका नाम 'चक्रवाक दूत चरितम्' है। सभी काकविन छन्दों मे लिखे गये है। ब्रह्माण्ड पुराण की रचना कवि मे भुजंग प्रयात छन्द में की गयी है। कवि साहित्यकारो ने अलंकारों का विधिवत प्रयोग किया इनमें रूपक ज्यादा प्रिय रहा है। कवि धर्मज मे स्मरदह मे यमक का अदभुतप्रयोग किया है। योगेश्वर के 'रामायण' में अपह्नुति का प्रभाव है। इसी प्रकार 'भारत युद्ध' में संशयोपमा का प्रयोग कवि साहिड्य में अद्वितीय माना जाता है।

(४) पुराण :—कवि मे अबतक केवल ब्रह्माण्ड पुराण प्राप्त हुआ है जिसमे संस्कृत के पुराणो के अर्धश्लोक या एक पाद का प्रयोग किया गया है।

(५) रामायण और महाभारत :—रामायण दक्षिण पूर्व एशिया के जनजन मे समा गया है। १०९४ ई० के आस पास कवि योगीश्वर ने संस्कृत छन्दो मे रामायण की रचना की, जिसमें २६ सर्ग और २७७१ श्लोक है। रामायण पर यह हिन्देशिया में सर्वाधिक प्रामाणिक ग्रन्थ है। गद्य में लिखा गया एक अन्य ग्रन्थ 'उत्तर काण्ड' है। जिसके अन्तिम दो अध्याय 'राम प्रस्थानिकम्' और स्वर्गारोहण हमे महाभारत की याद दिलाते हैं। इसके बाद 'हरिवंश' और 'अर्जुन विवाह' नामक लोकप्रिय ग्रन्थो की रचना हुई। बाद मे नव जवानी, बालि और मलय भाषाओं में भी रामायण की रचना हुई। इसी के आधार पर मन्दिरों की दीवालों मे रामायण की कथा उत्कीर्ण की गयी। हिन्देशिया में रामायण की कथा वाल्मीकि रचित रामायण से ही उद्भूत है किन्तु उसमें कई ऐसी कथाएं जुड़ी है तो वाल्मीकि रामायण मे भिन्न हैं। महाभारत को हिन्देशियाई-द्वीपों मे अष्टादश पर्व कहा जाता है। इनके आदि, विराट उद्योग और भीष्म पर्व १० वीं ११ वीं शती में लिखे गये। आदि और विराट पर्व छाया नाटक 'वायांग पूर्व' के रूप में आज भी प्रचलित है। भीष्म पर्व के आधार पर १०० ताड़ पत्रो पर लिखा गया 'भारत युद्ध' नामक ग्रन्थ प्रत्येक द्वीपान्तर वासी का प्रिय ग्रन्थ है। इसमे सुग्रीव और हनुमान इत्यादि के पूर्वजों का भी इतिहास है। कथाओं का भण्डार महाभारत कवि साहित्य के अनेक ग्रन्थों का मूल स्रोत रहा है। 'हरि विजय' में समुद्र मन्थन की कथा है। 'इन्द्र विजय' मे नहुष की कथा है। कौरवाश्रम नामक ग्रन्थ मे कौरवों को मृत्यु से दुःखी धृतराष्ट्र की कथा का हृदयस्पर्शी वर्णन है। चण्डी मन्दिर मे कृष्णायन के दृश्य अंकित हैं। इसी मन्दिर में अर्जुन विजय नामक कलात्मक अभिव्यक्ति है। सारसमुच्चय द्वीपान्तर का नीतिग्रन्थ है। कवि मे दार्शनिक साहित्य की रिक्तता नहीं है। बृहस्पतित्व, भुवनकोष इत्यादि शैव दर्शन के तथा 'संघयंगक' महायानिक बौद्ध दर्शन के मुख्य ग्रन्थ हैं। कवि साहित्य यद्यपि संस्कृत का शब्दशः अनुवाद नही है किन्तु, संस्कृत श्लोकों को पर्याप्त उद्धृत किया गया है अथवा ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया गया है।

अपसढ़ लेख के हूण

मदन चन्द्र भट्ट

आदित्यसेन के अपसद् (बिहार के गया जिले में स्थित) लेख मे उसके पूर्वज दामोदर गुप्त के शत्रु मौखरीनरेश की गजसेना द्वारा हूणों की पराजय का इस प्रकार उल्लेख मिलता है[1]—

'...यो मौखरेः समितिषुद्धत-हूण-सैन्या-वल्गाद्धटा विघटयन्नुरू-वाररागीनां...।"

इस लेख में हूणो को परास्त करने वाले मौखरी राजा का नाम नही दिया गया है। लेख से केवल इतना ही ज्ञात होता है कि मौखरी राजा ईशानवर्मा के उत्तराधिकारी ने हूणों को परास्त किया था और उसी राजा के साथ सघर्ष मे उत्तरकालीन गुप्त-राजा दामोदर गुप्त मारा गया था। ईशानवर्मा के हरहा अभिलेख मे उसकी आन्ध्र, शूलिक और गौड़ विजय का दावा किया गया है। इस लेख की तिथि ६११ (मालव-विक्रम संवत्) = ५५४ ई० है।[2] इसमे मौखरियों और हूणों के युद्ध का उल्लेख न होना इस बात का प्रमाण है कि हूणों ने ५५४ ई० के पश्चात् ही मौखरी राज्य पर आक्रमण किया होगा।

ईशानवर्मा का उत्तराधिकारी सर्ववर्मा मौखरी-वंश का सबसे प्रतापी शासक था, सम्भवतः उसी के शासनकाल मे हूणो ने मौखरी राज्य पर धावे मारे होंगे।

सर्ववर्मा के उत्तराधिकारी अवन्तिवर्मा के समय भी हूण-आक्रमण की सम्भावना है। संस्कृत के प्रसिद्ध नाटक मुद्राराक्षस के भरतवाक्य मे यह कहा गया है कि म्लेच्छों के आक्रमण से चन्द्रगुप्त नामक राजा ने पृथ्वी की रक्षा की थी।[3] मुद्राराक्षस की कुछ हस्तलिखित प्रतियों मे चन्द्रगुप्त की जगह अवन्तिवर्मा शब्द अंकित है। काले महोदय ने भरतवाक्य में वर्णित अवन्तिवर्मा को कन्नौज का मौखरी राजा अवन्तिवर्मा और म्लेच्छों को हूण स्वीकार किया है।[4]

अवन्तिवर्मा के समय हूण-आक्रमण का ज्ञान बाणभट्ट लिखित हर्षचरित से भी होता है। हर्षचरित के अनुसार कन्नौज के मौखरी राजा अवन्तिवर्मा के पुत्र ग्रहवर्मा का विवाह थानेश्वर के राजा प्रभाकरवर्धन की पुत्री राज्यश्री के साथ हुआ था। इस प्रकार अवन्तिवर्मा और प्रभाकरवर्धन समकालीन थे। हर्षचरित में दो बार हूणों से सम्बन्धित उद्धरण आबद्ध हे जिनसे प्रभाकरवर्तन के शासनकाल में दो बार हूणों के साथ संघर्ष का ज्ञान

---

१. प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन (उपाध्याय), पृ० ८३

२. हिस्ट्री आफ कन्नौज (त्रिपाठी) पृ० ५५-५६

३. म्लेच्छैरुद्विज्यमाना भुजयुगमधुना संश्रिता राजमूर्त्तेः।
स श्रीमद्बन्धुभृत्यश्चिरमवतु महीं पार्थिवश्चन्द्रगुप्तः॥

४. मुद्राराक्षस, इन्ट्रोडक्सन, पृ० १३

होता है। प्रारम्भ में बाणभट्ट ने राजा प्रभाकरवर्धन को "हूणहरिणकेसरी" कहा है अर्थात् हूणरूपी मृगों के लिए सिंह के समान। इस आधार पर डा० वासुदेवशरण अग्रवाल की धारणा है कि हूणों के साथ प्रभाकरवर्धन की भिड़न्त ५७५ ई० के लगभग हुई होगी।[5]

द्वितीय उल्लेख के अनुसार प्रभाकरवर्धन की मृत्यु से कुछ समय पूर्व उत्तरापथ में हूणों को मारने के लिए उसने अपने ज्येष्ठ पुत्र राज्यवर्धन को सेना सहित भेजा। उत्तरापथ को 'कैलास की प्रभा से भासित" तथा 'हिमाच्छादित पर्वतों के समीप" कहा गया है।[6] छोटा राजकुमार हर्षवर्धन भी अपने बड़े भाई के साथ गया था लेकिन कुछ पड़ावों के पश्चात् हिमालय की तराई मे, जहाँ सिंह, वराह आदि का बाहुल्य था, शिकार खेलने के लिए रुक गया और राज्यवर्धन तुषारशैल अर्थात् हिमानी पर्वतों की ओर चला गया। यह घटना ६०५ ई० की है।

हर्षचरित के उद्धरणो से यह स्पष्ट है कि मौखरी अवन्तिवर्मा के शासन काल में उत्तरापथ मे हूण विद्यमान थे। यह उत्तरापथ कन्नौज और थानेश्वर राज्यों के मध्यवर्ती उत्तरी सीमान्त पर स्थित होना चाहिए। छठी सदी ई० के अन्तिम भाग में कन्नौज और थानेश्वर राज्यों की सीमा का निश्चित ज्ञान उपलब्ध करने के साधन अप्राप्य है। प्राप्त साधनों से यही निष्कर्ष निकलता है कि आधुनिक उत्तर प्रदेश पर मौखरी तथा हरियाणा–पंजाब पर थानेश्वर के राजा शासन करते थे। थानेश्वर और कन्नौज के मध्य और उत्तर में यमुना—गंगा के उद्गमस्थल का पहाड़ी क्षेत्र हूणों के अधिकार में था। हर्षचरित मे कैलास शब्द का प्रयोग यह संकेत करता है कि सम्भवतः हिमालय में कैलास तक हूणों का क्षेत्र था।

कुमाऊँ-गढ़वाल मे आज भी कैलास-मानसरोवर की भूमि पश्चिमी तिब्बत को 'हूण-देश' और वहाँ के निवासियों को 'हूणियाँ' कहा जाता है।[7] श्री राखाल दास बनर्जी के अनुसार योरोप के हूण-आक्रान्ताओं के वर्तमान वंशजों की मैग्यार-भाषा और पश्चिमी तिब्बत के हूणियों की भाषा में पर्याप्त साम्य है। इसी आधार पर उन्होंने एशिया और योरोप के प्राचीन हूण-आक्रान्ताओं को वर्तमान तिब्बती हूणियों के पूर्वज स्वीकार किया है।[8] हुणियों को प्राचीन हूणों का वंशज मानने का सबसे बड़ा आधार उनकी बहुपति-प्रथा है। चीन के सीमान्त में ईसा से कई शताब्दियों पूर्व ह्यूंग्नू (हूण) जाति जिस बहुपति-प्रथा को मानती थी[9] वह आज भी तिब्बती हूणियों ने जीवित रखी है। गढ़वाल में जौनसार-बाबर तक बहुपति-प्रथा का प्रचार इस क्षेत्र में हूण-प्रभुत्व

५. हर्षचरितः एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० ८७
६. अथ कदाचिद्राजा राज्यवर्धनं...हूणान्हन्तुं...साभिसरमुत्तरापथं प्राहिणोत्। प्रविष्टे च कैलासप्रभाभासिनीं ककुभं...विक्रमरसानुरोधिनि केसरि-शरभशार्दूलवराह बहुलेषु तुषारशैलोपकण्ठेषु...। —हर्षचरित, ५।२५०–२५१
७. एटकिंसन-हिमालयन डिस्ट्रिक्टस्, खण्ड-३, पृ० ८४
८. दि एज् आफ इम्पीरियल गुप्ताज्, अ० १, पृ० ४६-४७
९. दि हूणाज् इन इण्डिया, २०१

का प्रभाव माना जा सकता है। इस प्रकार यह सम्भावना हो सकती है कि पश्चिमी तिब्बत के हूणियों ने नील घाटी से गढ़वाल में प्रविष्ट होकर जौनसार-बावर तक अपना प्रभुत्व स्थापित किया होगा।

अब समस्या यह उत्पन्न होती है कि हिमालय में हूणों की यह बस्ती आधुनिक है अथवा प्राचीन। पन्द्रहवीं सदी की कत्यूरी गाथाओं में कत्यूरी राजा मालूशाही की रानी राजुला शौक्याण के संदर्भ में यह कहा जाता है कि उससे हूण-देश का राजा विखेपाल विवाह करना चाहता था।[१०] चमोली-गढवाल मे पाण्डुकेश्वर से प्राप्त चार ताम्रपत्रों में कार्त्तिकेयपुर के राजाओं के भूमिदान की सूचना राजकर्मचारियों के साथ खष, किरात, हूण आदि को भी दी गई है।[११] इन ताम्रपत्रो मे वर्णित राजाओं ने आठवीं से दसवीं सदी ई० तक कुमाऊँ-गढ़वाल पर शासन किया था। इससे यह स्पष्ट है कि कुमाऊँ-गढवाल के सीमान्त पर आठवीं सदी से पहले से हूण रहते थे। मार्कण्डेयपुराण के अनुसार हूण भारत में खष, किरात आदि के साथ पर्वतों मे निवास करते थे।[१२] धर्मदास और संघदास लिखित वसुदेवहिण्डी नामक ग्रन्थ में चारुदत्त नामक एक व्यापारी की कथा है जो अपने मित्र रूद्रदत्त के साथ सिन्धुनदी के मार्ग से हूण और खषों के देश में पहुँचा था[१३] बृहत्संहिता[१४] में भी हिमालय, कैलास आदि पर्वतो से युक्त भारत की उत्तरदिशा में हूणों का निवासस्थान बतलाया गया है। वसुदेवहिण्डी और बृहत्संहिता गुप्तकाल मे लिखे गए ये अतः गुप्तकाल में ही हिमालय में हूणो की भूमि स्वीकृत हो चुकी थी। यशोधर्मन के मन्दसोर लेख मे हूण राजा मिहिरकुल को 'हिम-गिरिदुर्ग' वाला कहा गया है।[१५] इस लेख से यह प्रमाणित हो जाता है कि हिमालय मिहिरकुल का अभेद्य दुर्ग समझा जाता था। इसी को केन्द्र बना कर उसने अपनी सत्ता का विस्तार किया था। कालिदास के रघुवंश महाकाव्य की कुछ हस्तलिखित प्रतियों में हूणों का स्थान सिन्धुनदी और कुछ में वंक्षु नदी मिलता है। टीकाकार मल्लिनाथ ने सिन्धु पाठ स्वीकार किया है।[१६] सिन्धुनदी का उद्गमस्थल पश्चिमी

---

१०. राजा विखेपाल हुणि चिठी को सवाल नैं गो हूण-देश हुणि दि जर्नल आफ दि यू० पी० हिस्टो-रिकल सोसाइटी, खण्ड—९, पृ०३०

११. ...खषकिरातद्रविडकलिङ्गशौरहूणोड्र...।

प्रो० ए० सो० बं०, अप्रिल, १९७७, पृ० ७३

१२. अतो देशान् प्रवक्ष्यामि पर्वताश्रयिणश्च ये।
निराहारा हंसमार्गाः कुरवस्तङ्गणाः खसाः ॥३४
कर्णप्रावरणाश्चैव हूणा दार्वाः स-हूहुकाः। ३५ —मार्कण्डेयपुराण, अ० ५७

१३. सार्थवाह, पृ० १३१

१४. उत्तरतः कैलासो हिमवान्वसुमान गिरिर्धनुष्मांश्च ॥२४॥
मालहलहूणकोहलशीतिकमाण्डव्यभूतपुराः ॥२७॥ बृहत्संहिता, अ० १४

१५. स्थाणोरन्यत्र येन प्रणति-कृपणतां प्रापितं नोत्तमाङ्गं यस्याश्लिष्टो भुजाभ्यां वहति हिमगिरि-दुर्गं-शब्दाभिमान (म) —प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन, पृ० १६

१६. रघुवंश, ४।६७-६८

तिब्बत के हूण-देश में मानसरोवर झील है। इस प्रकार कालिदास के द्वारा उल्लिखित हूण भी आधुनिक हूण-देश से सम्बन्धित प्रतीत होते हैं।

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर यह माना जा सकता है कि हिमालय में हूणों का निवास बहुत प्राचीन है और छठी सदी के अन्तिम भाग में भी इस क्षेत्र में हूण रहते थे।[17]

उत्तरकाशी में विश्वनाथ मन्दिर के प्रांगण में इक्कीस फीट ऊँचा, दो फीट मोटा और अष्टकोणीय आकृति का एक त्रिशूल है। शीर्ष में त्रिशूल के साथ परशु भी संलग्न है। स्तम्भ के नीचे का भाग लगभग एक हाथ लम्बाई में तांबे के पत्तर से प्रतिबद्ध है और ऊपर की ओर सतरह फीट ऊँचाई में पीतल का भाग है। सबसे ऊपर की ओर जहाँ त्रिशूल और परशु है, लगभग तीन फीट ऊँचाई में लोहे का बना है। शक्ति के नाम से प्रसिद्ध इस त्रिशूल पर एक तीन पंक्ति का लेख है जिसके अनुसार गणेश्वर नामक राजा ने हिमालय के शिखरों के समान विशाल शिवमन्दिर का निर्माण करवाया था। उसकी मृत्यु के उपरान्त उसका पुत्र श्रीगुह गद्दी पर अभिषिक्त हुआ। राजा श्रीगुह ने शत्रुओं को परास्त करने के उपलक्ष्य में शिवमन्दिर के प्रांगण में 'शक्ति' का निर्माण करवाया था।[18] इस लेख की लिपि छठी सदी ई० में प्रचलित उत्तर गुप्तकालीन ब्राह्मी है और कन्नौजनरेश हर्षवर्धन के बांसखेड़ा ताम्रपत्र की लिपि से कुछ प्राचीन है।[19] इस प्रकार अपसद् लेख और हर्षचरित में वर्णित उत्तरपथ के हूणों को उत्तरकाशी लेख के राजाओं से मिलाया जाय तो लिपि की दृष्टि से कोई कठिनाई नहीं है। मिहिरकुल और तोरमाण को भी हूण माना गया है, वे दोनों शिव के उपासक थे। उत्तरकाशी लेख में वर्णित शासक भी शिव के उपासक थे। तोरमाण और मिहिरकुल के सिक्कों पर त्रिशूल अंकित है। श्रीगुह ने भी त्रिशूल को विशेष पवित्र मानकर ही उसका निर्माण करवाया होगा। एटकिंसन महोदय के अनुसार उत्तरकाशी में आज तक यह परम्परा है कि विश्वनाथ के त्रिशूल का निर्माण हूण - देश के राजा ने करवाया था।[20] ऐसी स्थिति में यह माना जा सकता है कि हूण-देश से नीलङ्ग दर्रे के मार्ग से हूण उत्तरकाशी में पहुँचे। वहाँ से उन्होंने गंगा के किनारे-किनारे आगे बढ़ना शुरू किया। छठी सदी के अन्तिम भाग में उन्होंने गढ़वाल को केन्द्र बनाकर यमुना के किनारे थानेश्वर के राजा प्रभाकरवर्धन और गंगा के किनारे कन्नौज के राजा सर्ववर्मा मौखरी के राज्य पर आक्रमण किए, जिनमें उन्हें विशेष सफलता नहीं मिली।

त्रिशूल-लेख के अनुसार श्रीगुह ने 'शत्रुओं को परास्त करने के उपलक्ष्य में' इस शक्ति का निर्माण करवाया था।[21] लेख के अन्त में राजा श्रीगुह द्वारा शत्रु का मन्थन

---

१७. पर्वतीय इतिहास परिषद् की शोध-पत्रिका, अङ्क २ (१९७३), पृ० ८-१२
१८. हिमालय में भारतीय संस्कृति, १६४-१६६
१९. दि आर्कियालाजी आफ कुमाऊँ, पृ० २८२
२०. हिमालयन डिस्ट्रीक्टस्, ३।४५
२१. शक्ति शत्रुमनोरथप्रमथनीं शम्भोरकारापतः। —हि० भा० सं०, १६५

करने वाली कीर्ति के स्थायित्व की कामना की गई है।[२२] ये कथन इस तथ्य की ओर संकेत करते हैं कि किसी महत्त्वपूर्ण युद्ध में सफलता मिलने पर इस शक्ति का निर्माण किया होगा। केदारखण्ड से भी ज्ञात होता है कि इस शक्ति का निर्माण एक महान युद्ध की स्मृति में किया गया है।[२३] यदि हर्षचरित में वर्णित राज्यवर्धन के उत्तरापथ अभियान की भौगोलिक स्थिति का सर्वेक्षण किया जाय[२४] तो यह स्पष्ट हो जाता है कि देहरादून की उपत्यका में हर्षवर्धन शिकार करने रुक गया और राज्यवर्धन की सेना कालसी से यमुनोत्री को जाने वाले मार्ग से उत्तरकाशी में पहुँची होगी। ऐसी स्थिति में यह सम्भव है कि उत्तरकाशी में ही राज्यवर्धन और श्रीगुह के मध्य युद्ध हुआ होगा।

राज्यवर्धन को हूणों के विरुद्ध सफलता मिली अथवा नहीं--इस पर बाणभट्ट मौन है। हर्ष के दरबारी प्रशस्तिकार का यह मौन भासित करता है कि राज्यवर्धन को हूणों के विरुद्ध सफलता नहीं मिली होगी। इस संदर्भ में बाण का यह कथन भी पुष्टि करता है कि पिता की मृत्यु के उपरान्त राज्यवर्धन हूण-युद्ध में घायल होकर थानेश्वर लौटा था और उसके शरीर के घावों पर लम्बी सफेद पट्टियाँ बंधी हुई थीं।[२५] बाण इतना अवश्य कहता है कि हूणों को जीतने वाले युद्ध में वह घायल हुआ था। दोनों पक्ष के दावों को देखते हुए यह माना जा सकता है कि उत्तरकाशी का युद्ध निर्णायक नहीं था। युद्ध का प्रारम्भ राज्यवर्धन के आक्रमण से हुआ था लेकिन उसे घायल होकर वापस लौटना पड़ा। उसका उद्देश्य सफल नहीं रहा। इसी कारण श्रीगुह ने 'शत्रु के मनोरथ' के विफल होने का दावा किया है। इस युद्ध के परिणामों को ज्ञात करने में सातवीं शताब्दी के चीनी यात्री ह्वेन्सांग के यात्रा-विवरण से भी सहायता मिलती है। थानेश्वर से लगभग ६६½ मील उत्तर-पूर्व की ओर चलने पर वह यमुना नदी के किनारे स्थित स्रुघ्न नगर में पहुँचा। यहाँ उसे हिमालय के पहाड़ दिखलाई पड़े। स्रुघ्न से लगभग १३३ मील का मार्ग तय करने पर वह गंगा नदी के उद्गमस्थल अर्थात् उत्तर-काशी जिले में स्थित गंगोत्री पहुँचा। इस संदर्भ मे इसने लिखा है[२६]--"गंगानदी को पारकर पूर्वीतट में आने पर 'मो-लि-पु-लो" (मतिपुर) राज्य मिला जो ६००० ली के क्षेत्र में फैला हुआ है, उसकी राजधानी २० ली के घेरे में बसी हुई है। वहाँ अनाज, फल और फूलों का आधिक्य है, जलवायु बहुत रमणीय है। निवासी ज्ञान का आदर करते हैं। जादू-टोना में निपुण हैं, बौद्ध तथा अन्य धर्मों में बराबर विभक्त हैं।

इस देश का राजा शूद्रकुल का है। वह बौद्धधर्म पर विश्वास नहीं करता, वरन्

---

२२. तावत्कीर्तिः सकीतश्चिरमरिमथनस्यास्तु राज्ञः स्थिरेयं। —वही, १६६

२३. निक्षिप्ता यत्र पूर्वं हि संगरे देवतासुरैः।
अद्यापि दृश्यते तत्र शक्तिर्धातुमयी शुभाः ॥१४ —केदारखण्ड, अ० ८३

२४. साप्ताहिक हिन्दुस्तान, २१ जून १९७०, पृ० ३०-३१

२५. हूणनिर्जयसमरशरव्रणबद्धपट्टकैः दीर्घधवलैः। —हर्षचरित, ६।३०१

२६. वाटर्स, ३२१-२२

देवताओं की पूजा करता है। वहाँ लगभग आठ सौ भिक्षुओं से युक्त बीस संघाराम हैं। अधिकांश हीनयान का अध्ययन करते हैं और सर्वास्तिवादी विचारधारा से सम्बन्धित हैं। इस देश में पचास से अधिक देवताओं के मन्दिर हैं। मतिपुर के मुख्य नगर से चार-पाँच ली की दूरी पर एक संघाराम है जिसमें लगभग पचास भिक्षु रहते हैं। प्राचीन काल में प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान गुणप्रभ ने इसी स्थान पर 'तत्त्व-सत्य-शास्त्र" तथा अन्य सैकड़ों ग्रन्थ लिखे थे। उसने महायान विचारधारा की कटु आलोचना की थी। गुणप्रभ के संघाराम के उत्तर में लगभग तीन-चार ली की दूरी पर एक विशाल संघाराम है जिसमे दो सौ के करीब हीनयानी भिक्षु रहते हैं। यह वही स्थान है जहाँ प्रसिद्ध बौद्ध-शास्त्रज्ञ संघभद्र की मृत्यु हुई थी।

मतिपुर के उत्तर-पश्चिम में गंगा नदी के पूर्वी तट पर २० ली के क्षेत्र में व्याप्त 'मो-यु-लो' (मयुर) नामक नगर है जिसके समीप गंगा नदी से संलग्न एक विशाल देवमन्दिर है। इसके विषय मे अनेक गाथायें प्रचलित हैं। इस मन्दिर से संलग्न एक जलकुण्ड है जो गंगा नदी के पानी से भरा रहता है, इसे गंगाद्वार कहते हैं। यह स्थान धार्मिक कार्यों के अनुष्ठान हेतु पवित्र समझा जाता है। यहाँ असहायों और अनाथों के लिए धर्मप्रेमी राजाओं ने पुण्यशालायें बनवाई हैं जिनमे मुफ्त भोजन और चिकित्सा की व्यवस्था है।"

ह्वेन्साग के इस वर्णन से निश्चित है कि उत्तरकाशी लेख में वर्णित शासकों की राजधानी मतिपुर थी जो आधुनिक हरिद्वार के पूर्व मे स्थित थी। उत्तरकाशी लेख मे गणेश्वर और श्रीगुह के वंश, जाति आदि का उल्लेख नहीं है। हूणों को भारत में म्लेच्छ समझा जाता था जो शूद्र वर्ण के ही समकक्ष का शब्द था। सम्भवतः इसी कारण ह्वेन्साग ने मतिपुर के राजा को शूद्रकुल का कहा है। उत्तरकाशी लेख से स्पष्ट है कि ये शासक शैव थे, बौद्ध-धर्म से इनका सम्बन्ध न था। हर्षवर्धन (६०६-६४७ ई०) के शासनकाल मे उसकी दो राजधानियो —थानेश्वर तथा कन्नौज के मध्य-उत्तर मे स्थित हरिद्वार पर उसका प्रभुत्व न था, वहाँ का शासक उसकी बौद्ध-नीति का पालक भी न था। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि मतिपुर के शासक ही हर्षचरित और अपसद् लेख के हूण थे तथा इन्ही के साथ प्रभाकरवर्धन, सर्ववर्मा और अवन्तिवर्मा का युद्ध हुआ होगा।

उत्तरकाशी लेख के अतिरिक्त इस अवधि का एक दूसरा लेख भी उपलब्ध है। देहरादून जिले मे जौनसार के अन्तर्गत यमुना नदी के दाहिने तट पर लाखामण्डल नामक स्थान में उत्तरगुप्तकालीन लिपि में एक खण्डित शिलालेख मिला है।[२७] लेख के अवशिष्ट अंश से ज्ञात होता है कि प्राचीनकाल में जयदास नामक राजा था। उसके वंश में क्रमशः गुहेश, अचल, छागलेशदास, रुद्रेशदास और छागलकेतु राजा हुए। जयदास और अचल के उत्तराधिकारियों के नाम खण्डित हो गए हैं। इस प्रकार, आठ राजाओं

---

२७. ज० यू० पी० हि० सो०, जुलाई, १९४४, पृ० ८१-९०

ने पांचवीं-छठी सदी ई० में इस क्षेत्र पर शासन किया था। अन्तिम नरेश छागलकेतु को छागलेश तथा अजेश्वर भी कहा गया है। इस लेख की अन्तिम तेरह पंक्तियों के खण्डित हो जाने से इस वंश का इतिहास अज्ञात हो गया है। लाखामण्डल लेख के प्रारम्भ में पशुपति को स्मरण किया जाना[28] इस बात की ओर संकेत करता है कि ये शासक भी उत्तरकाशी लेख में वर्णित राजाओं के समान शैव थे। डा० नौटियाल ने गुहेश, श्रीगुह आदि नामों में साम्य, लिपि, शैव धर्म में आस्था तथा स्थानों की समीपता के आधार पर लाखामण्डल लेख के राजाओं को उत्तरकाशी लेख के राजाओं का पूर्वज माना है।[29]

इस प्रकार पांचवीं शताब्दी ई० मे हूणों ने उत्तरकाशी, देहरादून और सहारनपुर जिलों की भूमि पर अधिकार कर अपना मतिपुर राज्य स्थापित किया जो सातवीं सदी ई० में ह्वेन्साग के समय तक विद्यमान था। इन हूणों को परास्तकर मौखरी सर्ववर्मा ने दक्षिण-पूर्व की ओर इनका प्रसार रोक दिया होगा। इसी कारण उसके शत्रु के वंशज आदित्यसेन के अपसद् लेख मे इसकी हूण-विजय का उल्लेख मिलता है।

२८. सिद्धम्। नत्वा नगेन्द्रतनयां परिहासक (श्रीम्)
(धृत्वा सदा) पशुपतेरतिचारुरूपम्॥
—ज० यू० पी० हि० सो०, जुलाई, १९४४, पृ० ८९-९०

२९. दि आर्कि० आफ कुमाऊँ, पृ० २८२

ऐतिहासिक चरित काव्य-परम्परा : केसरीसिंह बारहठ

चंद्रप्रभा योगी

महाकवि केसरीसिंह बारहठ ऐतिहासिक चरित काव्य परम्परा के २० वीं सदी के अन्तिम तथा सर्वश्रेष्ठ कवि थे। यहाँ केसरीसिंह प्रणीत काव्य विवेचन से पूर्व एक बात का उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा। बारहठ केसरीसिंह जी को लेकर एक भ्रम फैला हुआ है। ठीक एक ही समय मे राजस्थान में दो केसरीसिंह बारहठ हुए हैं। दोनों का सबंध चाचा-भतीजा। चाचा महाकाव्यकार केसरीसिंह जी कांकरोली के पास सोन्याणा ठिकाने के चारण राजा और भतीजा बारहठ केसरीसिंह शाहपुरा (जिला भीलवाड़ा) के।

केसरीसिंह (शाहपुरावाले) गांधीजी के भारतीय राजनीति में आने से पूर्व विजयसिंह पथिक, बालगंगाधर तिलक, रासबिहारी बोस एवं नेताजी के मित्र थे। आप क्रांतिकारी वीर तथा कवि भी थे। इन केसरीसिंह जी का पूरा परिवार पुत्र प्रतापसिंह, भाई गोरादान आदि लार्डहार्डिंज बम-काण्ड मे फांसी पर लटका दिए गए थे। इनकी कवि प्रकृति सूर्यमलमिश्रण के समान थी। इन्होंने भी राजा-महाराजाओं को व्यंगात्मक तथा बड़े ही जोशीले दोहे लिखकर अंग्रेजों का विरोध करने को प्रेरित किया था। इनके दोहे 'चेतावणी री चूंगट्यों' नाम से प्रसिद्ध हैं।[1]

---

१. पग-पग भम्या पहाड़, धरा छांड़ राख्यो धरम।
(ई सूं) महाराणांर मेवाड़, हिरदे बसिया हिन्द रं ॥१॥
घण घलिया घमसाण (तोई) राण सदा रहिया निडर।
(अब) पेखंता फुरमाण, हलचल किम फतमल हुवै ॥२॥
गिरद गजा घमसाण, न हवे घर माई नहीं।
(ऊ) मावैं किम महारांण, गज दोसैरा गिरद मे ॥३॥
ओरां ने आसांण, हाकां हरबल हालणौ।
(पण) किम हाले कुल रांण, (जिण) हरबल साहां हंकिया ॥४॥
नरियंद सह नजरांण, झुक करसी सरसीजिकां।
(पण) पसरेलौ किम पांण, पांण छतां थारौ 'फत्ता' ॥५॥
सिर झुकिया सहसाह, सींहासण जिणसाम्हने।
(अब) रलणौ पंगतराह, फाबे किम तोनें 'फता' ॥६॥
सकल चढ़ावें सीस, दानधरम जिणरौ दियौ।
सो खिताब, बक्सीस, लेवण किम् ललचावसी ॥७॥
देखेला हिंदवांण, निज सूरज दिस नेहसूं।
पण तारा परमांण, निख निसासां न्हांकसी ॥८॥
देखे अंजस दीह, मुलकेलौ मन ही मनां।
दंशी गढ़ दिल्लीह, सीस नमंतां सीसवद ॥९॥

कर्त्तव्य बोध[1] कराने के लिए इनकी ये मार्मिक उक्तियाँ आज भी राजस्थान में बहुत प्रचलित हैं। उस समय इनकी जागीर आदि सभी कुछ जब्त कर ली गयी थी; परन्तु १९७२ में जब भारत सरकार ने उनका शताब्दी समारोह मनाया तब उसमें इस क्रान्तिवीर के पुराने मकान-महलादि को "राष्ट्रीय स्मारक" घोषित करके वहाँ इनकी याद में एक 'स्मृति स्मारक' भी बनाया है।

दूसरे महाकाव्यकार केसरीसिंह बारहठ जो सोन्याणा निवासी हैं। ये भी राष्ट्रीय कवि थे। १९३६ मे मैथिलीशरण गुप्त का 'साकेत' और केसरीसिंह बारहठ का 'प्रताप-चरित्र' उस वर्ष की सर्वश्रेष्ठ कृतियाँ मानी गयी थीं। इन दोनों मे भी श्रेष्ठ 'प्रताप-चरित्र' को मानकर इन्हे नागरी प्रचारिणी सभा काशी ने "राजा बलदेवदास पदक" तथा "रत्नाकर पुरस्कार" से सम्मानित किया था। जिन महाकवि को कितने ही पुरस्कार उनकी काव्य रचनाओं पर मिल चुके हों, १९४१ से ५० तक निरंतर जिनकी ओजस्वी कविताओं का पाठ रेडियो स्टेशन बम्बई से प्रसारित होता रहा हो, उन्हीं महाकवि का स्वर्गवास हुए अभी दो दशक भी नहीं हुए हैं। परन्तु दुर्भाग्य है कि उनकी काव्य-कृतियों तक का ज्ञान हमारे आलोचकों तथा हिंदी साहित्य के इतिहास लेखकों को नहीं है। राजस्थानी के लब्ध प्रतिष्ठित विद्वान[2] लेखकों ने भी प्रमादवश ही इस ओर ध्यान नही दिया होगा अन्यथा ऐसी भूलें कैसे हो सकती थीं। ऐसा लगता है इन्हीं सामान्य भूलों को गणपतिचन्द्र गुप्त आदि इतिहास लेखको ने भी अपने इतिहास ग्रंथो मे दुहराया है।[3] उदाहरण के लिए इन्होंने "प्रतापचरित्र" "राजसिंह चरित्र" के साथ "जसवंत सिंह चरित्र" का उल्लेख किया है। "जसवंत सिंह चरित्र" तो अभी तक प्रकाशित भी नहीं हुआ है और न वह प्राप्त ही है। दुर्गादास राठौड़, रूठीरानी, अमरसिंह राठौड का कहीं भी उल्लेख नही किया है। महाकवि की ग्रामीण भाषा मे वि० सं० १८७२ के आसपास लिखी गयी प्रथम प्रकाशित कृति "त्याग-परित्याग" का

अंतबेर आखीह, 'पातल' जव बातां पहल।
(वे) राण! सह राखीह, जिणरी साखी सिर जटा ॥१०॥
कठिन जमानौ कोल, बाधे नर ही मत बिना।
(यो) बीरां हंदौ बोल, 'पातल' 'सांगे' पेखियौ ॥११॥
अब लग सारां आस, रांण रीत कुल राखसी।
रहौ साहि सुखरास, एक लिंग प्रभु आपरै ॥१२॥
मांन मोद सीसोद! राजनीतबल राखणौ!
(ई) गवरमिंट रीगोद, फल मीठा दीठाफता ॥१३॥

१. भारत के वायसराय लार्ड कर्जन ने दिल्ली में दरबार आयोजित करने के लिए भारत के समस्त नरेशों को फरमान भेजा। तत्कालीन महाराणा श्री फतहसिंह जी भी दरबार में सम्मिलित होने के लिए रवाना हो गये। इनका जाना मेवाड़ की प्राचीन मान-मर्यादा के विरुद्ध समझ, अपने अक्षुण्ण गौरव की स्मृति कराने के लिए ही ये १३ दोहे लिख भेजे थे। इन दोहों को पढ़ महाराणा दरबार में सम्मिलित नहीं हुए।
२. मोतीलाल मेनारिया : राजस्थानी भाषा और साहित्य, पृ० ३४५।
३. गणपतिचन्द्र गुप्त : हि० सा० का वैज्ञानिक इतिहास, पृ० ३२४।

कहीं भी उल्लेख नहीं पाते। जबकि इस कृति से तो चारण जाति तथा राजपूतों में खलबली मच गयी थी और इसे उस समय जब्त तक करवा दिया गया था। यह मैथिलीशरण गुप्त की "भारत-भारती" के समान ही क्रान्तिकारी भावना से ओतप्रोत काव्य पुस्तक है। कवि की सर्वप्रथम कृति "चितौड़ का साका" का उल्लेख भी किसी विद्वान ने नहीं किया है। इसमे कवि ने विभिन्न छदों मे वीररस प्लावित ओजमयी भाषा मे परिपूर्ण मेवाड़ के तीनों साकों मे काम आनेवाले महाराणाओं के अतिरिक्त महाराणा प्रताप के बाद से (पहला साका पद्मिनी, दूसरा साका सांगाकरुणावती, तीसरा साका प्रताप के समय में हल्दीघाटी तक) वर्तमान महाराणा के दादा श्री फतेहसिंह जी तक का वर्णन किया है। कवि के अप्रकाशित प्राप्त ग्रंथों में "शिव-शतक" तथा "वीर हम्मीर" अथवा "माता अन्नपूर्णा देवी" ग्रंथ काव्य की दृष्टि से श्रेष्ठ एवं लघु ग्रंथ हैं। कवि ने अपने जीवन की संध्या बेला में इन दोनो ग्रथों की सर्जना की थी। आधुनिक परिस्थितियों मे पड़कर कवि ने बड़ी ही कुशलता से नवीन उद्भावनाओं के साथ प्राचीन ऐतिहासिक नायकों के चरित्र को आदर्श रूप में प्रस्तुत किया है। इनके प्रबंध काव्य "प्रताप चरित्र" का उल्लेख करते हुए आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने कहा है—"अब तक महाराणा प्रताप का पुनीत चरित्र ब्रजभाषा काव्य की पद्धति पर एक अच्छे प्रबन्ध काव्य के रूप मे अकित न देखकर एक बड़े अभाव का अनुभव होता था। बड़े हर्ष की बात है कि सोन्याणा निवासी केसरीसिंह जी बारहठ ने "प्रतापचरित्र" की रचना करके इस अभाव को दूर किया और अच्छी तरह से दूर किया। इस प्रबन्ध काव्य के भीतर पुण्य श्लोक प्रताप का लोक पावन चरित्र अत्यंत ओजस्वी स्वरूप में और नयी सजधज के साथ रक्खा गया है। उक्तियो मे युद्ध और त्याग की उमंगें छलकी पड़ती हैं। कवियों की बँधी शैली के अनुसार चौथे चरणों में जो पद योजना हुई है वह बहुत गठी हुई और ओजस्विनी है। उससे कवि की प्रतिभा का अच्छा परिचय मिलता है। कथा के मर्मस्पर्शी अंशों को पहचान कर कवि ने उसका विस्तृत चित्रण किया है। संवाद इस काव्य का सबसे प्रभावशाली अंश हे जैसे "मानसिंह और प्रताप-संवाद", 'शक्ति सिंह और प्रताप-संवाद"। कवि ने कुल गौरव और जाति गौरव के ओजस्वी भावों के साथ-साथ देशभक्ति के आधुनिक भाव का भी बड़े सुन्दर ढंग से मेल किया है।"[1]

सुनितिकुमार चटर्जी के शब्दों मे "....हिन्दी काव्य की शैली के अनुसार ऐसी सुन्दर और सरस रचना आजकल दुष्प्राप्य ही है। साहित्यिक ब्रज भाषा जिसका प्रयोग आपने "प्रताप चरित्र" में किया है, वह स्वच्छन्दता और ओजगुण से भरी है। हिन्दी के धुरंधर कवि और लेखकों ने आपकी पुस्तक की उपयोगिता पर अपनी सम्मति प्रकट की है।...."।[2]

इनके अतिरिक्त हिन्दी साहित्य के कृष्णदेव प्रसाद गौड़, आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी,

१. महाकवि के निजी संग्रहालय से शुक्ल जी की हस्तलिखित सम्मति से उद्धृत।
२. वही।

श्यामसुन्दर दास, अयोध्यासिंह उपाध्याय, डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल, कन्हैयालाल पोद्दार, केशव प्रसाद मिश्र तथा मैथिलीशरण गुप्त,[२] आदि विद्वानों ने कवि की पवित्र और ओजस्विनी कवित्व शक्ति की भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

प्रबंध काव्यों के अतिरिक्त कवि ने प्रचुर मात्रा में मुक्तक काव्य की भी रचना की है। इसमें राष्ट्रीय भावना वाले चरितनायक के व्यक्तित्व का वर्णन, युद्धकौशल, युद्ध भूमि में प्राणोत्सर्ग, दानशीलता, कायरता पर व्यंग्य, वीरता आदि सद्गुणों का यशोगान किया है। इनके विवाह संबंधी गीत, शोकगीत, प्रसंगगीत, समस्यापूर्ति गीत (इसमें उसी समय मंच पर एक पंक्ति दे दी जाती है। कविवृन्द उसी समय आशु कविता के रूप में वहीं खड़े-खड़े कविता पूरी करते है) प्रशस्तिगीत, (देशभक्त, राजा-महाराजाओं की प्रशंसा के गीत) व्यंग्यगीत (सामाजिक बुराइयों को लेकर लिखे गए गीत) तथा राष्ट्रीय गीत (जिसमें देशभक्ति से संबंधित गीतों की रचना हुई) आदि प्रमुख हैं।

मुक्तक काव्य—महाकाव्यकार केसरीसिंह बारहठ दरबारी कवि नहीं थे और न ही किसी राजा के आश्रित। पूर्वजों की जागीर थी। इसलिए इनके काव्य में चाटुकारिता के कहीं भी दर्शन नहीं होते। इन्होंने किसी की प्रशस्ति में गीत लिखा भी है तो सच्ची कवित्व भावना से तथा नायक के सद्गुणों से प्रेरित होकर ही लिखा है। मुक्तक काव्यान्तर्गत इन्होंने मुख्यतः[१] प्रशस्ति-मूलक गीत, (२) शोक-गीत, (३) समस्यापूर्ति-गीत तथा (४) समसामयिक प्रसंगो पर ही अधिक उत्कृष्ट कोटि के गीत लिखें हैं। इनका मुक्तक काव्य विविधा पूर्ण एवं प्रभावोत्पादक है। इनके व्यंग्य, भक्ति, नीति संबंधी गीत भी कम महत्वपूर्ण नहीं हैं। कवि में सर्वत्र छंद-वैविध्य की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। महाराणाओं तथा किसी व्यक्ति विशेष की प्रशसा मे लिखे गए गीत भी मुख्यतः जातीयता एवं राष्ट्रीयता के भावों से परिपूर्ण हैं। इस प्रकार के गीतों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उनमें संकीर्णता कहीं दृष्टिगोचर नहीं होती। व्यापक दृष्टि, उच्च आदर्श एवं सच्ची श्रद्धा में नत होकर ही ये गीत लिखे हैं। गीतों में भी 'गीत', 'दोहा', 'छप्पय', 'कवित्त' आदि छंदों के प्रति कवि का अनुराग स्पष्ट प्रकट हुआ है। शैली में भावानुसार ओज, माधुर्य एवं प्रसाद गुण सर्वत्र विद्यमान रहे हैं। इनका गीत-साहित्य समय के अनुसार हमें बल एवं शक्ति देता है। कवि की गीत-संपदा हमारे लिए गौरवपूर्ण निधि है। कविराजा दुर्गादान जी (कोटावाले) के निधन पर कवि ने हार्दिक श्रद्धांजलि समर्पित करते हुए निम्न मरसिया सुनाया था—

आज कविराज दुर्गदान के स्वर्गजात, वदन पिरानो और हृदय चिरानो हाय।
शोक प्रसरानो सर्व संबंधिन गेह-गेह, आज बड़े सदगुन को खानो परियानो हाय।
आज कविराज महियार को निधन होत, हरि को भयो है आज पूर्ण कुरामानो हाय।
यों तो, भयो देखिए अपार दुख, औरन को, पे बिप्रन चकोरन को चंद अथियानो हाय।
रात में न भूलूँ, परभात में न भूलूँ, नेक जात में न भूलूँ मैं विजात में न भूलूँ ध्यान।

१. महाकवि के निजी संग्रहालय से।

राग में न भूलूं, अनुराग में न भूलूं कभी, चित्त में न भूलूं मैं कवित्त में न भूलूं ज्ञान।
देश में न भूलूं, परदेश में न भूलूं हाय, पुर में, नगर में, घर में न भूलूं जान।
मरन खटोली पर झूली हो मरन बाद, आपको सनेह तब भूलि हों कृपानिधान।[1]

कवि ने अपनी पीड़ा की सहज अनुभूति को मात्र दो मनहर छंदों में अभिव्यक्त कर अपने उत्कृष्ट काव्यकौशल का परिचय दिया है।

चारण जाति के लिए अभिशाप बनी हुई "त्याग" जैसी बुरी सामाजिक प्रथा पर आक्रोश प्रकट करते हुए बोलचाल की डिंगल भाषा में लिखते हैं :—

रखवाला रजपूत आप म्हांरी इज्जत रा।
दे विद्यारथ दान करो कमठा कीरतरा।
चारणिया दो चार त्याग लेवणिया ताता।
ज्यारा सिर में जूत जबरजड़ हो जगत्राता।
तकसीम करो मत त्याग ने, यो सवाल इनसाफ रो।
सह सुकव घणो करसी, सुजस इण मोटा उपकारहो।[2]

इस प्रकार 'त्याग' सदृश्य कुप्रथा पर कवि ने 'त्याग-परित्याग' नामक एक छोटी-सी पुस्तक लिखी है जिसमे चारणजाति को समयानुरूप अपने को बदल लेने के लिये आह्वान किया गया है।

महाकवि समस्यापूर्ति करने मे बड़े सिद्धहस्त थे। ऐसा वे अपने अपार ऐतिहासिक एवं शास्त्रों के गंभीर अध्ययन के आधार पर करते थे। एक उदाहरण प्रस्तुत है—शीर्षक दिया गया—"जम्बुक जाय आकास में रोयो"

पूर्ति—रन द्वन्द्व भयो गढ़ लंक हुए जब जोगिनी आदि चराचर जोयो।
रोस बढाय गयो सकरारि वहाँ, साँग लगी रु सहोदर सोयो।
लेन चले हनुवंत सजीवन, ता नग जंबुक बैठिवो होयो।
ले गिरी वीर उठाय चले, तब जंबुक जाय अकास में रोयो।।[3]

जबुंक=सियार। सियार आकाश में जाकर रोता है। क्यों? कैसे। कवि ने जल्दी से कल्पना में उस प्रसंग को याद किया। लक्ष्मण के शक्तिबाण लगने पर मूर्छित होने पर हनुमान जी जो पर्वत उठाकर लाए थे, उस पर सियार बैठा हुआ था। हनुमान जी पर्वत उठाकर आकाश में उड़े। सियार भय से रोने लगा। इस प्रकार के समस्यापूर्ति गीतों में महाकवि ने अपने जीवनकाल में संकड़ों पुरस्कार जीते थे।

कवि ने व्यक्ति तथा समाज मे व्याप्त सभी बुराइयों पर गीत लिखे थे। ऐसे गीतों की संख्या सैकड़ों में है—यहाँ 'मदिराष्टक' से एक कवित्त उद्धृत है, जिसमें कवि ने तत्युगीन सामंत एवं राजवर्ग पर कठोर प्रहार किया है।

---

१. महाकवि के संग्रहालय से संकलित एवं उद्धृत।
२. त्याग-परित्याग : कोटा प्रिंटिंग प्रेस, कोटा सन् १९२५, पृ० सं० १६।
३. कवि के अप्रकाशित गीत संग्रह से उद्धृत।

देश की पुकार मे न, घर के सुधार में न, राज दरबार में न, काम न कमाई में।
पाठन पठन में न, लोक संगठन मे न, ईश्वर रटन में न, पीर न पराई में।
आई में न, जाई में न, जननी अमाई में न, स्वारथ की वेर रहे कछुक लुगाई में।
केसव कहत सुनो मान्यबर मद्यपी को, आठो जाम जीव रहे केवल सुराई में॥[1]

महाकवि का प्रबंध काव्य-कौशल

कवि ने अपने सर्वश्रेष्ठ महाकाव्य "प्रताप चरित्र" के निवेदन के अन्त मे निम्नोक्त दोहों के साथ अपनी सरलता का परिचय दिया है—

भाषा एक हु की भली, मिली नहीं तालीम।
तातें ताके दोष को, मैं मनु नीम हकीम।
समुझि यहीं करि हे क्षमा, जे बुध हृदय उदार।
जे दर्शी पर दोष के, तिनहीं हरष अपार॥[2]

कवि कवीर के समान बहुश्रुत विद्वान थे। निश्चित रूप से वे स्कूली पंडित नहीं थे। भारतीय इतिहास एवं संस्कृति के गंभीर विद्वान तथा भक्त थे। सच्चे देशभक्त तथा कुलाभिमानी थे। इन्होंने प्रबंध काव्यों में अपने आदर्श नायक-नायिकाओं का गौरव-पूर्ण परम्परा के अनुकूल ही वर्णन किया है। इन्होंने ओजगुण का संचार करने के लिए भाषा को कहीं भी कृत्रिम नहीं बनाया। सहज गुण सर्वत्र विद्यमान है। रचनाशैली में सरसता एवं निरंतर प्रवाह बना रहता है। हालांकि ये स्वयं युद्ध क्षेत्र में प्रत्यक्ष अनुभवी नहीं थे। फिर भी भावानुरूप सच्चे हृदय से प्रस्फुटित इनके युद्ध वर्णनों मे बीर रस का उत्कृष्ट कोटि का सांगोपांग वर्णन हुआ है। ये मूलत: बीर रस के ही गायक थे। इन्होंने शृंगार रस पर मात्र गिनती की ही पंक्तियां लिखी होंगी। सारा प्रबंध साहित्य बीररस से ओतप्रोत है।

इन्होंने किसी आश्रयदाता की खुशामद में दो-चार गीत भी लिखे हों ऐसा नही मिलता है। इन्होंने जो कुछ लिखा आत्मानुभूति की सच्ची प्रेरणा से प्रेरित होकर ही लिखा है। इतिहास के प्रनि विशेष आस्था होने के कारण इनके प्रबन्धों मे कहीं-कहीं कथानक को आगे बढ़ाने के लिए इतिवृत्तात्मकतापूर्ण वर्णन भी हुए है, जिनसे प्रबन्ध कथावस्तु में अनावश्यक शैथिल्य आ गया है। इन्होंने परम्परा का पालन भले ही ग्रंथ के नामकरण में किया हो लेकिन काव्य रूप एवं शैली संबंधी विधि विधानों मे यह बात देखने को नहीं मिलती। नायक अथवा नायिका के नाम पर इनके ग्रन्थों का नामकरण अवश्य हुआ है लेकिन सर्गों के स्थान पर इन्होंने सीधे प्रसंगों एवं विषय के आधार पर ही कथा को विभाजित किया है। कवि ने अपने काव्य ग्रन्थों में मुख्यत: नायक के 'चरित्र का वर्णन किया है। 'दुर्गादास,' 'प्रताप', 'राजसिंह', 'हम्मीर', 'जसवंतसिंह'

१. कवि के अप्रकाशित गीत संग्रह से उद्धृत।
२. प्रताप चरित्र : भूमिका, पृ० सं० ४। प्र० सं० सम्वत् १९९२, आदर्श प्रेस, अजमेर (राजस्थान)।

'चित्तौड़ का साका', 'शिव-शतक', 'वीर छत्रसाल', आदि सभी पात्रों के युद्ध संबंधी कार्य-कलापों की प्रमुखता तो रही है किन्तु कवि ने प्रायः जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त वर्णन के अतिरिक्त वंश-परम्परा आदि का भी आरम्भ मे वर्णन किया है। इतना निश्चित है कि कवि ने अपने ग्रंथों मे अपने उच्चकोटि के आदर्शों के अनुरूप ही वीरो के जीवन को काव्य का विषय बनाया, जिन्होंने किसी न किसी व्यापक एवं महान् लक्ष्य को सामने रखकर ही अपने शौर्य एव आत्मत्याग का प्रदर्शन किया था। इनके सभी चरितनायकों ने तत्कालीन मुस्लिम शासकों के अत्याचारो के विरुद्ध अपने देश धर्म एवं जाति के विरुद्ध तलवार उठाई थी। इसमे उनका कही भी संकुचित दृष्टिकोण नही था। इनकी कविता भी सच्चे उद्गारों के रूप मे अभिव्यक्त होने के कारण सहज एवं प्रभावपूर्ण है। वर्णनों मे सर्वत्र उत्साह, साहस एव शौर्य की व्यजना हुई है।

औरंगजेब के हिन्दुओं पर असह्य अत्याचारों के विरुद्ध कवि ने किसी सांप्रदायिक विचारों से प्रेरित होकर नही, बल्कि क्रोधित और दुखी होकर लिखा है :—

ह्वै तो जो न राना राजसिंह को अयुक्त हठ,
दारा को बिछोरि जो न खलु अपनावतो।
काहु के कहे पे विसवास जो न करिलेतो,
सेवा मो तनिक भातृ भाव जो बढावतो।।
सहसा करन हू मे ह्वै तो जो अधीर नाहिं,
अग्रिम विचारिवे मे नेक मन लावतो।
दिल्ली ते विधर्मिनी को आसन उलटि जातो,
औरंग को शासन अवश्य उठि जावतो।।१।।[1]
व्है तो जो न हाय जसवंत की अकाल मृत्यु,
व्है तो अवसान जो न राजसिंह रान को।
व्है तो विहि बेर जो न शेवा को निकटकाल,
महादेव दच्छिन के जंगी तन-त्रान को।
व्है तो जो कछूक त्रिहुराजन मे संघठन,
व्है तो जो विलंब भाग्य दीन हिंदुवान को।
(तो) तीनों ही महीप एक दिन मे उठायकर,
फारस में फेंक देते झण्डा मुगलान को।।२।।[2]
बाबर की बेर महामाया को पदार्पण भो,
सांगा मत्रवादी देख दूर ही भगी रही।
प्रबला सहारा भो जलालुदीन अकबर को,
(पे) धूनी प्रताप की ठिठुक ठगी रही।

---

१. राजसिंह चरित्र : प्र० सं० सम्वत् २०१०, ओसवाल प्रेस कलकत्ता ; पृ० १८६।
२. वही, पृ० १८७।

राना राजसिंह, जसवंत, शिवराज बेर,
कबौं सोए गई कबौं जेमती जगी रही।
गई ना निगोड़ी पराधीनता सुधान पाप,
भारत की देह हाय डाकिनी लगी रही ।।३।।[१]

कवि भारत की आपसी फूट और वैमनस्य को कोसता हुआ लिखता है :—

भारत तिहारी बड़ी फूट को प्रणाम को,
आज न दवाय बैठे प्रबल उमंगों को।
भिन्न-भिन्न तपेलिन खिचरी पकाय बैठे,
व्यर्थ ही मराय बैठे अपने तुरंगों को।
पराधीन होय बैठे देश को डुबोय बैठे,
केउ बेर खोय बैठे सुन्दर प्रसंगों को।
तीनो ही महीप मेल जोल कर लेते तो तो,
एक क्या? उठाय देते आठ अवरंगों को।।[२]

इनके काव्यों मे प्रबंधात्मकता की दृष्टि से शैली में एकरूपता का प्रायः अभाव ही है। काव्य विस्तार की दृष्टि से भी सभी ग्रन्थ ३०-४० छदो से लेकर ४००-५०० छदों के विस्तार में हैं। 'रूठी रानी' व 'राठौर-अमरसिह' अपेक्षाकृत छोटे काव्य ग्रन्थ हैं। बाकी ग्रन्थ बड़े हैं। इनमे भी प्राचीन डिंगल कवियो के समान छद-वैविध्य की प्रवृत्ति तो रही ही है।

छन्द—इन्होंने मनहर, दोहा, षट्पदी, छप्पय, सोरठा, सवैया, हरिगीतिका, नाराच, पद्धरि, मुक्तादाम, गीत, निसाणी तथा मत्तगयन्द आदि छदो का ही विशेष रूप से प्रयोग किया है।

भाषा—इन्होंने डिंगल और ब्रजभाषा मिश्रित राजस्थानी का प्रयोग किया है। प्रान्तीय शब्दों के अतिरिक्त अरबी, फारसी, तुर्की, अंग्रेजी आदि के शब्दों को निस्संकोच स्थान दिया है। कुछेक पद खड़ी बोली में भी लिखे हैं। भाषा की सबसे बड़ी विशेषता—वह सर्वत्र प्रभावपूर्ण एवं ओजगुण सम्पन्न रही है। इसके लिए उन्होंने अक्षरों मे द्वित्व संयुक्ताक्षरी एवं नादात्मक शब्दों की प्रचुरता के अलावा शब्दरूपों मे तोड़-फोड़ भी काफी किया है। उससे कहीं-कहीं भाषा अत्यन्त उद्धत, ऊबड़-खाबड़ भी हो गयी है।

इस प्रकार देखते हैं कि तत्युगीत ऐतिहासिक नायकों अथवा पात्रों एवं घटनाओं के प्रस्तुतीकरण, समकालीन वातावरण एवं विभिन्न दृश्यों के चित्रण, वीरता, शौर्य एवं आत्म-बलिदान की भावनाओं के अभिव्यंजन तथा काव्य-पद्धति, छंद-योजना एवं भाषाशैली के क्षेत्र में इनका महत्व अन्तिम और श्रेष्ठ ऐतिहासिक चरित-काव्यकार के रूप में स्वीकारा

---

१. दुर्गादास चरित्र : प्र० सं० संवत् २०१०, ओसवाल प्रेस, कलकत्ता, पृ० सं० ५६।
२. रूठी रानी : प्र० सं० संवत् २००८, ओसवाल प्रेस, कलकत्ता, पृ० सं० ३५।

जाएगा। इनकी विशेषताओं के साथ इनकी शिथिल प्रबंधात्मकता को भी नहीं नकारा जा सकता।

भावों के अनुरूप भाषा का समर्थ प्रयोग उनके हलदीघाटी के युद्ध चित्रण में देखिए—

> चले चढ़िय नंदिय शंकर साथ, नमो कैलासपुरी का नाथ।
> लिए, संग भूतरु प्रेत पिसाच, नचे बहु ताण्डीव आदिक नाच।
> चले फटकारत सुण्ड मतंग, हले जनु कज्जल अद्रि उत्तंग।
> कसे कितने पर त्र्यम्बक संग, किसी बहुरक्क सुभग्गन रंग।
> चले हयउद्धत कंध उठाय, लखे जिनको सपतास लजाय।
> फरक्कत है जिन पै गजगाह्य, रह्यो रवि देखन को रुकिराह।
> धक्यो महारान तहाँ धरि-द्वेस, निकारनध्वान्त चढ्यो कि दिनेश।
> मनो मकरध्वज पैको महेश, किधौ सगरावत पै कपिलेश।१॥'

इस समय प्राचीन राजस्थानी काव्य परम्परा में जन्म लेनेवाला कवि नवयुग में श्वास ले रहा था। अब उसको न लाख-पसाव, न करोड़पसाव, न हाथी घोड़ों का, अथवा न जागीर पाने की लालसा में ही लिखना था और न किसी आश्रयदाता महाराज की खुशामद में ही। युग के साथ परिस्थितियाँ भी बदल गयी। अब कवि को एक व्यक्ति के स्थान पर समष्टि के लिए कविता करना था। ऐसा कवि ने किया। अब कवि के काव्य का रसास्वादन केवल एक राजा के स्थान पर संपूर्ण भारत वासी ले रहे थे और उनकी काव्यत्व प्रतिभा की प्रशंसा कर रहे थे। इस प्रकार महाकवि केसरीसिंह बारहठ ने भी भारतीय इतिहास को पुनः एक बार और शौर्य और उर्जस्वी भावो से परिपूरित गाथाओं से अलंकृत कर दिया।

ताहा और उनकी हिन्दी कविता

इक़बाल अहमद

सूफ़ी साधकों ने शुद्ध मानव अनुभूतियों का चित्रण किया है एवं मानव के प्रति व्यापक तथा उदार जीवन दृष्टि रखते थे। सूफ़ी सन्तों ने उच्च वर्ग को त्याग कर निम्नवर्ग को सर्वव्यापक प्रेम भावना का प्रश्रय दिया, जिससे सामान्य जनता अत्यधिक प्रभावित हुई। इन्होंने सन्तों की भाँति केवल दूसरों को फटकारा या भला, बुरा नहीं कहा-नहीं मौखिक रूप से संदेश दिया, प्रत्युत् समाज के सम्मुख ऐसी रचना प्रस्तुत की कि वह मनुष्य मनुष्य को अलग करने अथवा मतभेद उत्पन्न करने के बजाय ईश्वरीय प्रेम का संदेश देती है, जिसका एकमात्र उद्देश्य मनुष्य मनुष्य को बिना जातिभेद अथवा धर्मभेद के एक स्थान पर इकट्ठा करना एवं प्रेम के मार्ग में जो काँटे हैं उन्हे चुनना तथा मनुष्य मनुष्य को गले लगाना है। यही कारण है कि सूफ़ी साधकों के शिष्यों मे हिन्दू और मुसलमान दोनों मिलते हैं। इन्हीं मे से १७ वीं शताब्दी के एक सूफ़ी साधक 'ताहा' भी हैं। इनकी शिष्य मण्डली में हिन्दू और मुसलमान दोनों थे। आज भी इनकी समाधि पर लगभग भारत की सभी जातियाँ श्रद्धा के फूल अर्पित करने के लिए इकट्ठी होती है और बहुत बड़ा मेला लगता है।

सूफ़ी साधक 'ताहा' का मूल नाम सैयद अबुल हसन, है किन्तु इन्होंने हिन्दी कविता के लिए अपना नाम 'ताहा' चुना और इनकी फ़ारसी रचनाओं मे 'कुतुबुद्दीन' नाम मिलता है। ये इन दोनों नामों अर्थात् 'ताहा' और 'कुतुबुद्दीन' मे भलीभाँति जाने जाते थे। कहा जाता है कि किसी ने इन्हे 'कुतुबुद्दीन' की उपाधि दी थी। फारसी साहित्य के विद्वान इन्हें बड़े आदर से स्मरण करते हैं। इनके पिता सैयद महमूद शहीद थे जो स्वयं एक प्रसिद्ध सूफ़ी साधक थे। 'ताहा' ने अपने पिता से ही सूफ़ी साधना की शिक्षा प्राप्त की थी। सैयद महमूद शहीद का देहान्त किसी धार्मिक युद्ध में हुआ। इनकी समाधि कोताना जिला मेरठ (उत्तर प्रदेश) में अटक नदी के तट पर आज भी विद्यमान है।

पिता के निधन के पश्चात् सैयद अबुल हसन 'ताहा' की शिक्षा का प्रबन्ध इनके निकट सम्बन्धी अब्दुल वहाब और सैयद हुसेन ने किया। 'ताहा' का बचपन से ही झुकाव धर्म एवं दर्शन की ओर था। अतः इन्हे छोटी आयु में ही संसार तथा परमात्मा के सम्बन्ध में गहरा ज्ञान प्राप्त हो गया था। इन्हें सदैव बड़े-बड़े संतों, साधकों और महात्माओं से मिलने की इच्छा रहती थी और समय-समय पर मिलते रहते थे। एकबार इनको ख्वाजा खानू अली चिश्ती निजामी के खलीफा हजरत शेख आशिक से मिलने का शुभ अवसर प्राप्त हुआ। सैयद 'ताहा' ने उनसे प्रार्थना की कि वे इन्हें 'हर्फ-व-महबत'

की प्रबल इच्छा और असीम भक्ति को देखकर कहा—"तुम्हारा काम तमाम हुआ, कोताना आओ, तुम्हारी जात से बहुत से आरिफ़ औलिया होंगे।" वहाँ से सैयद 'ताहा' हजरत शेख आशिवा का आशीर्वाद लेकर कोताना चले आये। कोताना में सैयद 'ताहा' एकान्त-वास लेकर विचार ध्यान में लीन हो गये।

सैयद 'ताहा' ने अपने जीवन मे कभी भी सादगी को नहीं छोड़ा। वस्तुओं से कोई रुचि न थी, न ही इन्होंने धन-दौलत, मान-मर्यादा और आदर की परवाह की। इनके सम्बन्ध में कहा जाता है कि एक बार सम्राट औरंगजेब ने इन्हें बहुत-सा धन देकर सम्मानित करने के लिए अपने दरबार में आमंत्रित किया। सैयद 'ताहा' ने आमंत्रण को स्वीकार नहीं किया और कहा कि हमारा राजदरबार से क्या सम्बन्ध? लेकिन पाठक को इसका यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि वह समाज से विरक्त थे। वह समाज में रहते थे और सभी से प्रेमपूर्वक मिलते थे तथा निर्धन ने यदि इन्हें आमन्त्रित किया तो वह वहाँ अवश्य जाते थे। ये दीन-दुखियों से प्रेम, मधुरता और सहृदयता से मिलते थे। इनको दीन-दुखियों से मिलने एवं उनकी सहायता करने में आनन्द आता था। निम्नकोटि के व्यक्तियों में जो कुरीतियाँ प्रचलित थी, उनको दूर करने का भरसक प्रयत्न करते थे।

सैयद 'ताहा' के सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध है कि इन्हे भविष्य ज्ञान हो जाता था। इन्होंने अपनी मृत्यु के सम्बन्ध में एक वर्ष पूर्व ही अपने खलीफा शेख मोहिबुल्लाह को फारसी में पत्र लिखा था, पत्र का भावार्थ इस प्रकार है—"मेरे जीवन की यात्रा अब बहुत निकट है", यही इतना नही इन्होंने अपनी मृत्यु से सात दिन पूर्व 'खिरका' और 'सनद-ए खिलाफत' शेख फतह मुहम्मद ग्यासुद्दीन को अनुग्रह किया और एक पत्र भी लिखा था।

सूफी साधक 'ताहा' की सन्तानों के सम्बन्ध में केवल इतनी सूचना मिलती है कि इनके दो पुत्र—सैयद मुहम्मद आशिक और सैयद मुहम्मद सादिक थे ये। दोनों अपने पिता के समान ही आगे चलकर प्रसिद्ध सूफी हुए। इन दोनों पुत्रों की हिन्दी कविता की कोई सूचना नहीं प्राप्त है। लेकिन मुझे लगता है कि इन लोगों ने भी कुछ-न-कुछ हिन्दी में अवश्य लिखा होगा।

सैयद ताहा की जन्म तिथि का अभी तक पता नहीं चल सका है, किन्तु मिर्जा मुहम्मद अख्तर ने अपनी पुस्तक 'तजकरा औलिया-ए. हिन्दी' में, इनकी मृत्यु हिजरी सन् १०८४ (१६७३ ई०) में ६३ वर्ष की आयु में हुई, लिखा है। इसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि सैयद अबुल हसन 'ताहा' का जन्म हिजरी सन् १०२१ अर्थात् ई० सन् १६१० ई० में हुआ होगा। इनकी समाधि कोताना, तहसील बागपत, जिला—मेरठ (उ० प्र०) में एक धार्मिक स्थान के रूप में विद्यमान है। इनकी समाधि को नवाब जाफर खां आलमगीर ने बनवाया था।

सैयद ताहा की मातृ-भाषा फारसी थी, किन्तु इन्हें अरबी भाषा का अच्छा ज्ञान था।

का फारसी भाषा में अनुवाद किया करते थे। इन्हें अरबी, फारसी के साथ-साथ हिन्दी पर भी अधिकार था, क्योंकि ये अपना आध्यात्मिक संदेश जनसाधारण में पहुँचाने के लिए हिन्दी का ही प्रयोग करते थे।

'ताहा' की हिन्दी रचनाओ के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि इन्होंने आचार-विचार, रूढ़ियों और परम्पराओं को विशेष महत्व नहीं दिया। इन्होंने शुद्ध हृदय से सदाचार सम्बन्धी नियमों का पालन करते हुए, प्रेम स्वरूप जगत के कण-कण मे व्याप्त ब्रह्म की उपासना की है। ताहा की रचनाओ में न तो कल्पना की उड़ान है, न शब्दालकारों की छटा है और न ही ज्ञान अथवा दर्शन सम्बन्धी कोई गूढ बात। उन्होने तो केवल जीवन के सत्यों को बहुत सुलझे हुए रूप में ऐसी सरलता के साथ व्यक्त किया है कि शिक्षित-अशिक्षित सभी के हृदय पर प्रभाव डाले बिना नहीं रह सकती। वास्तविकता तो यह है कि मनुष्य के जीवन के सच्चे रहस्यों का वर्णन जिस कविता में होगा उसका सम्मान अवश्य होगा। यही कारण है कि 'ताहा' की कविता को आज भी मान प्राप्त है।

काव्य सौंदर्य को प्रभावशाली बनाने के लिए अलंकार योजना का विशेष महत्त्व होता है। ताहा के काव्य में अनेक अलंकारों की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। यद्यपि ताहा प्रमुख रूप से प्रेमी, भक्त और उदारचित्त व्यक्ति थे। इन्होंने अपनी हिन्दी रचना में अलंकारों को लाने का यत्न नहीं किया है प्रत्युत अलंकार स्वत: उनके काव्य की शोभा बनकर आये हैं। इनके काव्य में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा और यमक को विशेष स्थान मिला है। उदाहरणार्थ—

ताहा यह सौतिन निद्रा बुरी, पी पास जान न दे।
पी के इती प्रताप से, इस सौतिन मुख कहे॥

अथवा

कूकर दर दर फिरत है, दुर दुर दुर दुर होय।
ताहा एक दर गह रहो, दुर दुर करे न कोय॥

संभव 'ताहा' ने अपनी कविता के लिए व्रजभाषा को चुना है और यह स्वाभाविक भी है क्योंकि वह उस क्षेत्र के रहने वाले थे, जहाँ कि जन भाषा व्रजभाषा थी। लेकिन इसे हम शुद्ध रूप में व्रजभाषा नहीं कह सकते, क्योंकि इसमें अन्य भाषाओं के शब्द भी आये हैं जैसे पंजाबी, हरयानी और अरबी तथा फारसी आदि। इनकी भाषा सरल, सरस एवं प्रांजल है। भाषा में मुहावरों और लोकोक्तियों के प्रयोग से सजीवता एवं सशक्ता आती है। यही कारण है कि 'ताहा' ने भी अपने काव्य सौंदर्य, भाषा सौन्दर्य और भावव्यंजना की अभिवृद्धि के लिए मुहावरों और लोकोक्तियों का सहज प्रयोग किया है—

रहने ऊपर चित नहीं, चलने ऊपर चाव।
ताहा पी से यों मिले, ज्यों [illegible]॥

सूफी साधक 'ताहा' ने भी अमीर खुसरो और शेख निसार की भाँति परमात्मा को 'पति' के रूप में अपनी कविता में व्यक्त किया है। सूफी साधक सदैव परमात्मा के नूर (ज्योति) के दर्शन के लिए लालायित रहते हैं। सैयद 'ताहा' भी परमात्मा के नूर को देखने की इच्छा व्यक्त करते हैं। इन्होंने 'पति' रूप में प्रियतम को देखने की जो इच्छा व्यक्त की है वह इस प्रकार है--

ताहा तन का दीवा करूँ, बाती गरदन से जीव।
लोहू तेल जलाय के, तो मुख देखूं पीव।।

अथवा

ताहा कंकरी पथरी टेकरी रहे आरसी होय।
जब देखूं नैन भर, तब मैं पाऊँ तोय।।

इस प्रकार कविवर 'ताहा' ने अपनी रचनाओं में सूफी पद्धति के दोहे लिखे हैं तथा समाज के दो बड़े समूह को प्रेम के द्वारा इकट्ठा करने का प्रयत्न किया है और एक सीमा तक सफल भी रहे हैं--

इसके अतिरिक्त सैयद 'ताहा' के प्राप्य दोहे इस प्रकार हैं---

ताहा सुन्दर भजन को कभी न छोड़ा जाय।
ऐसा मूरख कौन है पान छोड़ खल जाय।।१।।
महा राम दुख होत है तन मन झगड़े ना बना।
ताहा वह डग जायँगे जिनके थाको ना बना।।२।।
ताहा पी के स्वांग दरस देख मुख को धोय।
आज रैन है रंग की काल न ऐसे होय।।३।।
ताहा सोना अजब है जो को जाने सोय।
मन की लकुटी लाय कर तन को डाले खोय।।४।।
ताहा जवन करतल में तेल है जवन हिरदय में पी।
जो देखा चाहो पीव को दिल मल डावर जी।।५।।
ताहा कोठे पर की दौड़ है दौड़ जाये तो दौड़।
फिर पाछे पछताइगा जब घर जायगा छोड़।।६।।
ताहा जिस हिरदय पी नहीं लग्यो उस हिरदय आग।
जिसके हिरदय पी बसे उसको सदा सुहाग।।७।।
ताहा मृतक हो रहो ओढ़ प्रेम की सौड़।
कभी तो पी पूछेंगे ही कौन मुवा इस ठौर।।८।।
औगुन जंजीर में मूरख बाँधे जान।
ताहा बन्दे छोड़ बिन बन्द होय छूयें नान।।९।।
जावन से पी नेमम लखू तावन सुख पायो जीव।

ताहा तो मर जायगे कुछ हम में रहे न हम।
अब हम से जम भाग्यो जम पर भी हम जम ।।११
ताहा हम तो मोरे प्रेम के जम से डरते तांबा।
जम बेचारा क्या करे जो जीवन है मर जांबा ।।१२
ताहा दुनिया घर है फूँस का ममता लागे आग।
पी का हरग बूझ कर भागा जाये नी भाग ।।१३
मोहे चिन्ता रैन दिन ज्यों लकड़ी घुन खाय।
ताहा पी के भजन बिन, जनम अकारथ जाय ।।१४
ताहा जोजो दीजे पर कर देत न लागे बार।
एक जीव बया होत है दीजे लाख हजार ।।१५
ताहा पहले एक भी चहुं दिस पी पी होय।
ना जानू छिन एक में कौन सुहागिन होय ।।१६
ताहा अब तक तो फैली भई और एक रही मन बान्ह।
जब जी जम की ब सपरे तब पत रही कि नान्ह ।।१७—
ताहा पी ढूढ़रया रूम शाम खुरासान।
गर नेटरी बतलाइयाँ कसूं जानू पछान ।।१८
ताहा सगे जीव का जग में नाहीं कोय।
और संग सब छोड़ दे पी संग हो सो होय ।।१९
ताहा जम आया जी नैन को ढूढ़े सगरे देहा।
जब भी पी के पास हो तो जम कहाँ से लेहा ।।२०
ताहा सुन मुख हो जीव चमक देख मत भाग।
भागन को जागा नहीं चहूँ दिए लागे आग ।।२१
ताहा धरा नहीं धीरा जहाँ है गुर की बान।
मुसलमान भाग न्यारे बसै काफिर बूजज जाव ।।२२
ताहा ऐसी प्रीति कर जूं कुरसान की रेत।
दाम धने दुख चौगुना तोउ खेत से रेत ।।२३
ताहा कोट सराय का फूट रहा चहुं ओर।
मत सोवे सुख निद्रा आन लगे ना चोर ।।२४
ताहा सूरत मित्र की बड़ी रहे नित चित्त।
खाव पीव सुख करो याद रखो यह नित्त ।।२५
ताहा जग चलता जात है जग में लाहा नाहिं।
जो छन पी के संग रहो सो ही ताहा जान ।।२६
ताहा टाटी लाज की रोक रही सब ठांव।
मन की टाटी दूर कर सूझ परे वह गांव ।।२७

ताहा तन की मथनी मन मेव और मन की मथनी जीव।
जी को मथनी पी मेव वही पीर वही जीव ॥२८

ताहा जग में आन के कहीं न पावो चैन।
सांस नक्कारा कूंच का बाजत है दिन रैन ॥२९

ताहा जग में आन के छोड़ दो सगरी ऐंठ।
लेना है सो ले चलो उजड़ी जात है पैंठ ॥३०

ताहा बेल सों बेल है ऐजी ठाहना कटान्हा।
हम से तुम को बहुत है तुम सा हमको नाहना ॥४०

ताहा बहते दरियाव में पड़े सो गोता खाय।
बहतो डूबे नातरी कहीं न पाये ठाव ॥४१

लखपत : राजस्थानी लोकगीत

माणक तिवारी 'बन्धु'

लोक-साहित्य की दृष्टि से राजस्थान एक अतिसमृद्ध भूभाग है। इसकी समृद्धि के अनेक ऐतिहासिक व भौगोलिक हेतु रहे हैं। अद्यावधि यहाँ के लोक-साहित्य का अत्यल्प भाग ही साहित्य-जगत् के समक्ष आ पाया है, फिर भी यह अत्यल्प भाग चमत्कृत कर देने मे सक्षम है और अध्ययन की दृष्टि से इस पर भी वांछित गति व स्तर से कार्य नही हो पाया है।

'लखपत' नामक राजस्थानी कथात्मक लोकगीत मे सामंत-कालीन पारिवारिक व सामाजिक स्थितियो के अनेक आवरित पक्षों को स्पष्ट किया गया है। लोकसाहित्य, इतिहास व अन्य साहित्यिक विधाओं के क्षेत्र मे सम्बद्ध अथवा असम्बद्ध, पर मानव-जीवन के अति निकट की अनुभूत एवं भोगी गई परिस्थितियो व तथ्यों का सपाट शब्दावली मे यथावत् वर्णन तो करता ही है, साथ ही यह प्रत्येक स्थिति को समाज के हित की आधार-शिला पर खण्डित अथवा मण्डित करता है। इसी सन्दर्भ से चर्चित लोकगीत मे भी अनेक मानवीय कमजोरियों, पारिवारिक असंगतियो, सामाजिक विषमताओ व मान्यताओं आदि का वर्णन करते हुए लोकगीतकार की मुख्य ध्वनि सद्वृत्तियों की ओर जनमानस को आकृष्ट करने की ही रही है।

'लखपत' गीत मे नायक के जन्म, विवाह, युद्धार्थ-गमन, पत्नी का ढाढी से शारीरिक संबंध, ढाढी को पत्नी-दान, ढाढी की स्थिति, नायिका की मरणासन्न स्थिति, नायक द्वारा उसकी अंतिम इच्छा—एक लोटा जल पिलाना—की पूर्ति व नायिका की मोक्ष प्राप्ति की घटनाएं प्रमुख रूप से वर्णित हैं।

चर्चित लोकगीत का नायक लखपत एक ऐतिहासिक पात्र है तथा यह १४ वीं शताब्दी के लगभग का माना जाता है, पर प्रस्तुत पंक्तियों मे ऐतिहासिकता की अपेक्षा गीत की कथावस्तु व वर्णन के सामाजिक पक्ष ही अध्ययन के अभीष्ट बिन्दु हैं। इस गीत के आधार पर अनेक सामाजिक व पारिवारिक परम्पराओं एवं मान्यताओं के स्पष्ट चित्र मानस-पटल पर अंकित होते हैं।

गीत का प्रारम्भ जन्म-संस्कार के वर्णन से होता है। पुत्र-जन्म पर स्वर्ण थाल बजाना तथा सोने की छुरी से नालोच्छेदन करना तत्कालीन समाज में पुत्र-जन्म को एक महत्वपूर्ण उपलब्धि मानने की ओर इंगित करता है। शुक्ल पक्ष की चतुर्दशी व रेवत नक्षत्र में जन्म होना अनेक राजस्थानी लोकगीतों में वर्णित है और यहाँ के जन-मानस में इसे शुभ माना जाता रहा है। ज्योतिष विद्या के प्रति आस्था का प्रतीक यह वर्णन आगे ब्राह्मण वर्ग की सामाजिक प्रतिष्ठा व गरिमा को स्पष्ट करता है। इसी संदर्भ में पण्डित (ब्राह्मण) को भेंट आदि देने का प्रसंग भी वर्णित है। परिवार

में नवजात शिशु की भूआ अथवा बहिन की भूमिका पुत्र-जन्मोत्सव पर विशेष उल्लेखनीय रहती आई है और इसकी पुष्टि भी यह लोकगीत करता है। लोकगीतकार ने नवजात-शिशु की प्राथमिक आवश्यकता, पलने का वर्णन भी अत्यन्त रोचक ढंग से किया है तथा इस वर्णन में शिशु के लिए घर के उपयुक्त स्थल का वर्णन भी किया गया है। इस प्रकार पुत्र-जन्मोत्सव को समारोह-पूर्वक मनाने की परम्परा का स्पष्ट उल्लेख 'लखपत' गीत में हुआ है।

राजपूत जाति स्वभावतः ही युद्धप्रेमी होती है, अतः नायक को घोड़ों के साथ चित्रित किया गया है। तदनन्तर सामन्ती परम्पराओं के अनुरूप "आठ असवारी" व "सोले ओठी" के साथ नायक बारात लेकर प्रस्थान करता है। वीरोचित विवाह के वर्णन में "तोरण-समेलो", "बेह", 'चंवरी', "हथलेवो जुड़ावणो" एवं "मंगलगीत" आदि अनेक राजस्थानी वैवाहिक परम्पराओं का उल्लेख है और ये आज भी विवाह-कार्य में प्रत्येक राजस्थानी परिवार में देखी जा सकती हैं। ये सभी वर्णन क्रमिक हैं तथा लोकाचारानुसार हैं।

विवाहोपरान्त तत्काल ही नायक का युद्ध के लिए प्रस्थान वर्णित किया गया है, जो तत्कालीन राजनैतिक स्थिति को द्योतित करता है, पर साथ ही इस वर्णन में राजपूतों के चरित्र के अन्य उदात्त तत्त्व भी मुखरित होते हैं। परिवार की अपेक्षा प्रजा व देश का महत्व उनके लिए सर्वोपरि था। शासक वर्ग की व्यक्तिगत एषणाएं राज्य पर संकट के समय गौण मानी जाती थीं और राजपूत के चरित्र की यह विशेषता इतिहास के पृष्ठों पर भी अनगिन रूपों में अंकित है। लोकगीत में इस भावना का वर्णन तत्कालीन लोकमानस की एतद्विषयक मान्यताओं को स्पष्ट करता है।

नायक के प्रस्थान की तैयारी करने पर नव-परिणीता पत्नी से उसका वार्तालाप भी लोकगीत में वर्णित किया गया है, जो पारिवारिक व्यवस्था के अनेक पक्षों को दर्शाता है। सास द्वारा बहू को हर बात साधिकार कहना तथा बहू के लिए सास के कथन असह्य होना, गीत की संबंधित पंक्तियों मे स्पष्ट है। परन्तु साथ ही परिवार में मातृ-स्थान की पुष्टि व उसके अधिकारों की स्वीकृति भी पत्नी को नायक द्वारा स्वयं की जबान वश में रखने की बात कह कर चित्रित की गई है। यहाँ स्वयं से बड़ों के प्रति आदर-भाव रखते हुए उनके कथन को अन्यथा भाव से ग्रहण न करने का भी इंगित किया गया हो, सम्भव है।

राजस्थानीय लोकमानस का संगीत अथवा कलाप्रेम भी, चर्चित गीत में ढाढी नामक गायक जाति के व्यक्ति का वर्णन करके, अभिव्यक्त किया गया है। वर्णन-प्रसंग में नायक के युद्धार्थ प्रस्थान के उपरान्त घर पर अन्य सदस्यों, जो स्त्रियां ही हैं, के मनोरंजनार्थ ढाढी को रखवाले के रूप में छोड़ने तथा अच्छी रागों के गीतों से मनोरंजन होने का स्पष्ट उल्लेख गीत में किया गया है।

भौतिक सुख-सुविधाओं के उपादानों की दृष्टि से राजस्थान का अतीत समृद्ध रहा नहीं लगता। 'लखपत' गीत में तथा अन्य अनेक गीतों में भी रात्रि के समय घरों में

प्रकाश का होना सप्रयोजन अथवा सोद्देश्य इंगित किया गया है। स्पष्ट है कि यहाँ, किन्हीं भी कारणों से, रात्रि के समय समुचित प्रकाश-व्यवस्था नहीं थी अथवा नहीं रखी जाती थी। आज भी राजस्थान के ग्रामीण क्षेत्रों में ग्रामवासी अधिकांशतः रात्रि का समय अन्धकार में ही व्यतीत करते है और अपने दैनन्दिन कार्यों का सम्पादन भी सहजता से अभ्यास के कारण करते रहते है।

गीत मे उपर्युक्त वर्णन के पश्चात् मानवीय चरित्र की दो विशेषताओ को एकसाथ उभारा गया है। ये दोनो विशेषताएँ नायक व उसकी पत्नी के माध्यम से प्रस्तुत हुई हैं। लखपत की पत्नी अपने पति की अनुपस्थिति मे ढाढी से शारीरिक संबंध स्थापित कर कामेच्छा की तृप्ति करती हे और लखपत इस पर प्रतिक्रिया स्वरूप उस ढाढी को ही अपनी नव-परिणीता पत्नी सौंप देता है। यहाँ सामन्ती कुलों की महिलाओं के चारित्रिक पक्ष पर मर्मान्तक प्रहार किया गया लगता है तो दूसरी ओर एक राजपूत के उदात्त एवं धीर चरित्र का पक्ष भी उजागर हुआ है।

लखपत द्वारा अपनी पत्नी को ढाढी के सुपुर्द किया जाना, अनेक कारणों से सभव है। वैसे राजपूतों ने पत्नी के लिये, चाहे वह परिणीता न भी हो और दोनो मे से किसी भी एक के हृदय मे दूसरे के प्रति प्रेम-भावना रही हो, अनेक रणांगणों का आयोजन कर इसे इतिहास की आम बात बना दिया गया है। पर, चूकि, चर्चित गीत के नायक का प्रतिस्पर्द्धी उसके समान स्तर वाला कोई राजपूत नही है, बल्कि उसी का आश्रित है, अतः उस ढाढी के प्रति उसके दिल मे अन्य कोई भावना आती उसकी अपेक्षा यह अधिक सभव था कि तत्क्षण ढाढी का मस्तक तलवार के वार का शिकार बन जाता। परन्तु उस स्थिति में लखपत के लिए अपनी नव-परिणीता उस पत्नी के साथ जीवन व्यतीत करना एक समस्या बन जाती और पारिवारिक सुख-शान्ति की दृष्टि से यह शरीर-सम्बन्ध कभी भी घातक स्वरूप में प्रकट हो सकता था।

नारी को अदण्डनीय मानना भी कुछ सीमा तक इस घटना का हेतु माना जा सकता है, पर जैसा कि लोकसाहित्य का उद्देश्य सामाजिक मान्यताओं या परम्पराओं को निखारना रहा है, यहाँ भी लोकगीतकार द्वारा इसी सदुद्देश्य को प्रधान बनाकर सम्पूर्ण वर्णन को बीभत्स प्रभावकारी होने से बचा लिया है। चूँकि लखपत की पत्नी और ढाढी के शारीरिक सम्बन्ध मे दोनों की सहमति चित्रित की गई है, अतः यहाँ ढाढी प्रधान दोषी नहीं बल्कि रानी ही प्रमुख अपराधिन है। सजा रानी को ही मिलनी उचित थी और ऐसा ही हुआ। ढाढी उसके कुकृत्य का भागीदार था अतः सजा मे भी उसे समान रूप से भागीदार बना दिया गया। यह तथ्य भी उक्त वर्णन मे अन्तर्निहित माना जा सकता है, जो राजपूत शासकों के न्याय-कौशल का परिचायक कहा जाना चाहिए।

एक अन्य हेतु यह भी हो सकता है कि समाज में बुराई अथवा अनैतिक मानी गई प्रक्रियाओं को सम्पादित करने वाला समाज के समक्ष अपने वास्तविक स्वरूप में उपस्थित किया जाय। अन्य किसी शारीरिक दण्ड की अपेक्षा यह मानसिक दण्ड जहाँ उस विशेष अपराधी में सुधार लाने की आशा जाग्रत करता है वहीं अन्य असामाजिक तत्वों को

ऐसी घटनाओं से सावधान भी किया जाता है। जो भी हेतु रहा हो, पर यह सुनिश्चित है कि लोकगीत में वर्णित यह घटना सामाजिक बिखराव, अनैतिकता का प्रसार एवं उच्छृखलता पर अंकुश के उद्देश्य को लेकर ही चित्रित है।

लोकगीत में आगे की पंक्तियों में ढाढी व गीत की नायिका के जीवन का शेष भाग थोड़े से शब्दों के माध्यम से प्रकट किया गया है। ढाढी की झोंपड़ी में वर्षा का पानी चू रहा है और नायिका रुग्णावस्था मे अपनी अंतिम घड़ियां गिन रही है। यह वर्णन सामाजिक मूल्यों व अवमाननाओं की अवहेलना करनेवालों की परिणति बताता-सा चित्रित है।

आगे की पक्तियों में लोकगीतकार ने सम्पूर्ण घटना-क्रम को अध्यात्म व भाग्यवादिता से जोड़कर इसे पूर्णता प्रदान की है। सामाजिक विधानानुसार मरणासन्न प्राणी को उसके प्रिय-जन द्वारा गगाजल आदि पिलाया जाता है तथा यह क्रिया उस प्राणी को मोक्ष प्रदान कराने में सहायक मानी गई है। यहां गीत की नायिका अपने पति के हाथ से एक लोटा पानी पीने की इच्छा व्यक्त करते हुए उपर्युक्त लक्ष्य-प्राप्ति का इंगित करती है। प्रश्न है कि लखपत ने जब उसे ढाढी के साथ कर दिया, तब नायिका द्वारा उसे ही पति मानना कहाँ तक न्याय संगत है? इसका उत्तर हमारी सामाजिक व्यवस्थाओं के अनुरूप यही होगा कि चूंकि रानी की देह ढाढी मे शारीरिक संबंध होने के पश्चात् उच्च सामाजिक स्थिति वाले लखपत के लिये भोग्या नहीं रही थी, पर अग्नि को साक्षी मानकर लखपत व नायिका ने एक-दूसरे को पति-पत्नी माना तथा यहां विवाह को तो जन्म-जन्मातर का बन्धन माना ही जाता है। अतः यहां भी नायिका का देहमात्र ही ढाढी को प्रदान किया गया था, उसकी आत्मा का संबंध तो लखपत से ही था। रानी ने भी इसीलिए ढाढी के साथ जाने से कही प्रतिवाद का स्वर तक नहीं निकाला। यही प्रधान कारण रहा है कि लोकगीतकार ने इस सामाजिक मान्यता को नकारने से बचाते हुए लखपत के हाथ मे उसे पानी पिलवाया तथा मोक्ष-प्राप्ति का उल्लेख किया।

जीवन के वसन्त-यौवन से ले अन्तिम समय तक परित्यक्ता रह कर भी रानी द्वारा लखपत के हाथ से पानी पीने की इच्छा का प्रकटीकरण नारी-हृदय मे पति के स्थान को स्पष्ट करता है। पुरुष-प्रधान समाज में नारी उसकी भोग्या अथवा आज्ञाकारिणी ही है, ऐसा इस कथानक से उद्घाटित होता है।

भारतीय संस्कृति के अनेक अमर तत्वों मे भाग्यवादिता भी एक है। यही तत्व लोकगीत की अंतिम पंक्तियों में स्पष्ट है। यद्यपि लखपत नामी नायक के ऐतिहासिक काल मे राजस्थानी मानस इतना भाग्यवादी नहीं माना जा सकता, जितना कि चर्चित पंक्तियों मे वर्णित है, क्योंकि लखपत एक राजपूत है और राजपूत ने भाग्य को तलवार में माना है। अतः इस गीत मे यह वर्णन होना, इस अंश के प्रक्षिप्त होने का-सा आभास कराता है। वैसे जिस किसी भी लोकगीतकार ने यह अंश जोड़ा होगा तो समसामयिकता के आधार पर ही यह प्रक्रिया हुई होगी, यह निश्चित रूप से माना जा सकता है।

यहाँ यह अंश जोड़ा जाना पूर्व वर्णित समस्त कथानक को अनेक प्रकार की सामाजिक प्रतिक्रियाओं से बचाने का प्रयास कहा जाना अधिक उपयुक्त होगा।

इस प्रकार चर्चित 'लखपत' गीत अनेक सामाजिक तथ्यों को उजागर करनेवाला है। राजस्थानी लोकगीतों की ऐसी ही अनेक मणियों को मिलाकर यदि समग्रता से उन्हें परखा जाय तो उनके प्रकाश में निश्चय ही राजस्थान के अतीत का समाज यथावत् हमारे सम्मुख प्रकाशित हो सकता है।

हिन्दी उपन्यास-शिल्प : एक गतिशील रचना प्रक्रिया

त्रिभुवन सिंह

इसके पूर्व कि हम हिन्दी उपन्यास-शिल्प के बदलते हुए मानदण्ड पर कुछ कहे, हमारे लिए यह जान लेना आवश्यक है कि क्या प्रत्येक साहित्यरूप का कोई न कोई एक निश्चित 'शिल्प' होता है। शास्त्रीय शब्दावली के प्रयोग के बिना क्या हम किसी साहित्य-रूप को नही समझ सकते ? अप्रासगिक तो अवश्य जान पडेगा, पर मै ऐसा जान-बूझकर कह रहा हूँ क्योंकि मुझे एक ऐसे साहित्य-रूप पर आगे विचार करना है जो जन्म से ही शास्त्रीय बन्धनों को नकारने की रुचि लेकर आगे बढा है। आचार्यो ने भरसक प्रयत्न किया है कि प्रत्येक साहित्य-रूप की एक निश्चित पहचान बन जाय जिससे कि भीड-भाड मे भी उसे पहचानने मे किसी को कोई दिक्कत न हो। नाटक की अपनी पहचान है, महाकाव्य का भी विधिवत् नामकरण किया गया और यहाँ तक कि मुक्तकों को भी नाम से मुक्त नही रहने दिया गया है। आदमी की जैसे अपनी पहचान होती है, आदमी शब्द के साथ ही एक एसा प्राणी आँखों के सामने आकर खडा हो जाता है, जिसके दो पाव, दो हाथ, दो आखे, दो कान और एक लम्बी-सी नाक होती है। वह गोरा भी हो सकता है, काला भी, लम्बा भी हो सकता है, ठिगना भी, देश का भी हो सकता है और विदेश का भी, पर उसकी सही पहचान होनी है, वह घोडा नही हो सकता और न तो रीछ ही। ठीक इसी तरह साहित्य-रूपो की भी पहचान होती है और अपनी अनेक देशीय तथा विदेशीय भिन्नताओ के बीच भी वे पहचाने जा सकते है। इन्हे अर्थ देने का कार्य आचार्य करता है जिसे आप लक्षणकार कह सकते है। आप चाहे तो उसे समीक्षक अथवा आलोचक भी कह ले मुझे कोई आपत्ति न होगी। मै अपनी बात कहता हूँ औरो को आपत्ति हो सकती है। लक्षणकारो अथवा व्यवस्था देने वालो से लोग कभी खुश नही रहे, सर्जक साहित्यकार तो और भी परेशानी का अनुभव करता रहा है। बधना कौन चाहेगा, ये लोग बाधने जा रहे है। मै अपने छात्र-मित्रो से पूछना चाहूँगा कि क्या वे खुश है ? अच्छे अक प्राप्त करने के लिए 'महाकाव्य के लक्षण' याद करने मे क्या उन्हे आनन्द आता है ? उपन्यास अथवा उपन्यासकार ने बन्धन तोडने का प्रयत्न किया है, ऐसा देखने मे लगता है, पर क्या बन्धन टूटा ? ऐसे ही समय पर कविवर बिहारी का स्मरण सहज ही हो जाता है—

'को छूटचो यदि जाल परि, कत कुरग अकुलात।
ज्यों ज्यौं सुरझि भजन चहत, त्यों त्यों उरझत जात ।।

उपन्यास तो ऐसे बन्धन मे फसता गया और उसकी शक्ले ऐसी बदलती रही है कि उसकी

सही पहचान कठिन हो गयी है। अस्तित्व के लिए बन्धन आवश्यक है। पचतत्व जबतक बधन मे है तभी तक तो आदमी आदमी है। सरिता का प्रवाह जबतक तटो के बंधन में है तभी तक तो सरिता का अस्तित्व है। साहित्य-रूप जबतक बधनों मे बधे है, तभी तक तो उनमे अभिप्रेत भावो को व्यक्त करने की शक्ति है। भाषा, शब्द, छन्द तथा अन्य रचना-तत्त्वों के अभाव मे क्या कथ्य को प्रस्तुत अथवा सचित किया जा सकता है? चेतन प्राणी के चिन्तन का स्वरूप क्या सदा एक-सा रहता है और यदि नहीं तो क्या एक-सी कोई ऐसी साहित्यिक पहचान बनाई जा सकती है, जो सर्वदेशीय या सर्वकालिक हो तथा साहित्य के रूप मे अभिव्यक्ति का माध्यम बन सकती हो। यदि नही तो साहित्य-रूपों को बन्धन मे भी बधना होगा, और उनकी अलग-अलग पहिचान भी होगी।

हम इसे स्वीकार करने के लिए भी विवश है, कि निर्माण-सौष्ठव की आवश्यकता किसी न किसी अश मे रहती ही है। साहित्यकार एक खाका खीचकर जीवन को रेखाओं के भीतर बाधना चाहता है। यदि वह ऐसा न करे तो चित्र बन ही नही सकता। चित्र की सुन्दरता की कल्पना और उसका मूल्याकन युगीन परिस्थितियों पर आधारित होता है। बदली परिस्थितियों मे स्रष्टा का सौन्दर्यबोध बदलता है जिसपर सामाजिक अभिरुचियों का भी अकुश कम नही रहता। एक ही देवता विभिन्न युगों और विभिन्न शिल्पियों के हाथों पडकर क्या अपनी पहचान नही बदल देता? भारतीय शिल्पी द्वारा गढी गई बुद्ध की प्रतिमा क्या वैसी ही होगी जैसी कि तिब्बत, चीन, जापान अथवा बर्मा के शिल्पियों द्वारा गढी जाती है। अनेक भिन्नताओं का होना अनिवार्य है, पर प्राप्त अनेकता मे भी कुछ एक ऐसी एकरूपता होती है कि जिज्ञासु को पहचान कर लेने मे कठिनाई नही होती। इसी प्रकार की प्रक्रिया साहित्य-रूपो एव उनके शिल्प-विकास के मूल मे सक्रिय रहती है, जिसके कारण साहित्य जीवित रहता है। युग सवेदना से कट जाने पर साहित्य अपनी उपयोगिता समाप्त कर लेगा, उसका अस्तित्व मिट जायेगा।

नाटक और महाकाव्यों को आचार्यों ने लक्षण मे बाधा तो अवश्य पर क्या उन्हे बदली परिस्थितियो मे गतिशील नही होने दिया? वाल्मीकि कृत रामायण महाकाव्य है, कालिदास कृत 'रघुवश' को भी महाकाव्य बनने मे नही रोका जा सकता, तुलसी कृत 'रामचरितमानस' को कौन महाकाव्य नही मानेगा और अब तो 'प्रियप्रवास' तथा जयशकर प्रसाद कृत 'कामायनी' को भी महाकाव्य की सज्ञा दी जा चुकी है। अभी भी महाकाव्य लिखे जा रहे है पर क्या सबकी एक ही पहिचान है? क्या वे लक्षण की किसी एक कसौटी पर कसे जाकर खरे उतर सकते है? उत्तर नकारात्मक होगा। लक्षणकारों को उदार बनना पडा है और उन्होंने आवश्यकतानुसार मानदण्डों मे परिवर्तन कर युग की महान् कृतियो को समादृत किया है। समूचे साहित्य को समग्रता मे न देख पाने के कारण परिवर्तन की रेखाये साफ नही दिखलाई पडती और हमे लगता है कि निर्णय के धरातल पर हम सकट मे पड गये है। हिन्दी उपन्यास के शिल्पगत मूल्याकन के सन्दर्भ मे भी यही सकट उत्पन्न हो जाया करता है। किन सामाजिक एव राष्ट्रीय परिस्थितियों

मे हिन्दी उपन्यास महाकाव्य अथवा नाटक से अलग हो एक स्वतन्त्र साहित्य-रूप के रूप मे विकसित हुआ है, इससे आप सभी परिचित हैं। इस प्रसग को तूल देकर मैं आपका समय नष्ट नही करना चाहता। जीवन की विषमताओ, राष्ट्रीय जन-जागरण एव वैज्ञानिक उपलब्धियों के आलोक मे जो समस्याएँ उभडकर सामने आईं उनको समाहित करने मे अपनी सीमाओ के कारण महाकाव्य, खण्डकाव्य और मुक्तक अर्थात् काव्य की निरर्थकता प्रमाणित हो चली थी। सांस्कृतिक एव राजनैतिक कारणो से हिन्दी मे नाटको की कोई तबतक परम्परा बन नही पाई थी कि गाडी कुछ आगे सरकती। हिन्दी गद्य का आविर्भाव और उपन्यास का उदय एक ऐतिहासिक घटना है जिसे इतिहास ने ही जन्म दिया है। यह कोई आकस्मिक दैवी घटना नही कि जो सहसा घटी है। इसके पीछे भी एक प्रक्रिया चलती रही है जो विकास के एक बिन्दु पर पहुँचकर उजागर हुई है।

उपन्यास साहित्य इतना गतिशील साहित्य है कि इसे शास्त्रीय बन्धनो द्वारा सीमित कर पाना कठिन है। 'एलन प्राइस जौन्स' के अनुसार आलोचक 'हर दस साल के बाद किसी न किसी उपन्यास की मृत्यु की घोषणा करता है। आलोचक बहुत सामान्य ढग से अपने वस्त्रो को शोक सूचक काले कोट मे ढक लेते है, उपन्यासकार पूर्ववत् लिखते चले जाते हैं।' अत इसमें सभी सहमत होंगे कि किसी भी कृति का एक न एक निश्चित 'फार्म' होता है, वह अच्छा हो सकता है, बुरा हो सकता है। विवाद का विषय यह है कि इस फार्म की आवश्यकता होती भी है अथवा नही ? इस प्रसग को लेकर आलोचक बराबर यही कहते हैं कि अमुक उपन्यास स्वरूप विहीन है। अग्रेजी मे इसी बात को शेपलेस (Shapeless) कहकर व्यक्त किया जाता है। इस शब्दावली मे आलोचक यही कहना चाहते हैं कि अमुक उपन्यास का आकार-प्रकार आपत्तिजनक है। ऐसे आलोचको की भी कमी नही है जो उपन्यास के शिल्पगत रूप को महत्वही नही देते और तीसरा आलोचक वर्ग ऐसा है जो कहता है कि रूपगत औचित्य और अनौचित्य का निर्णय उपन्यासकार की रुचि पर छोड देना चाहिए। इस प्रकार यह वर्ग समझौतावादी होते हुए भी उपन्यास की आत्मा के अपेक्षा कृत अधिक निकट जान पडता है। अत. शिल्प ग्रहण और त्याग दोनों ही उपन्यास की शिल्पगत विशेषताये है जो उपन्यासकारो द्वारा समय-समय पर कृतियो की प्रकृति के आधार पर निर्धारित होती रहती है।

ऊपर से देखने पर ऐसा लगता है कि 'उपन्यास एक ऐसा साहित्य-रूप है जो बन्धनों की अपेक्षा करने मे ही अपनी सार्थकता मानता है, क्योंकि वह निर्बन्ध जीवन के आधार पर ही निर्मित हुआ है।' इसका तात्पर्य यह नही कि उपन्यास का कोई शिल्प ही नहीं होता। एक अमेरिकी उपन्यासकार 'हेनरी जैम्स' के अनुसार उपन्यास केवल दो प्रकार के हो सकते हैं—जीवत उपन्यास तथा जीवन रहित उपन्यास। जीवन रहित उपन्यासों से तात्पर्य उन उपन्यासो से है जिनमे कला का चमत्कार नही मिलता। शिल्प एक कला है जिसके अभाव मे उपन्यास जी नही सकता। किसी भी कृति मे कुछ थोड़ा ही ऐसा है जो पाठकों की स्मृति मे शेष रह जाता है, उसके अतिरिक्त

वह सब कुछ भूल जाता है, जो कुछ भूल जाता है, निश्चित रूप से वह आवश्यक है, पर उस अनावश्यक को भी आवश्यक बनाकर प्रस्तुत कर देना शिल्प का ही कार्य है। हिन्दी के अन्य साहित्य-रूपों ने जिन सामाजिक प्रसगों को अनावश्यक समझकर छोड़ दिया था, उन्हे आवश्यक बनाकर हिन्दी उपन्यास ने प्रस्तुत किया है, जिसका श्रेय उसके शिल्प को है। लचीलेपन के अभाव मे जो साहित्य-रूप युग के साथ नही चल सके, वे समाप्त हो गये। और अपने लचीलेपन के कारण ही हिन्दी उपन्यास को दीर्घ जीवन मिला है। अपने इसी लचीलेपन के कारण हिन्दी उपन्यास समग्र भारतीय जीवन और उसकी समस्यायों को समेट सका है। विषय के धरातल पर इसके लिए कुछ त्याज्य नही, चरित्र के धरातल पर इसके लिए समाज का कोई भी वर्ग चाहे वह पुरुष हो अथवा नारी अस्पृश्य नही और न सर्ग-सख्या की सीमा मे ही यह बधने के लिए विवश है। सच पूछिये तो पूर्ववर्ती साहित्यरूपों द्वारा तिरस्कृत प्रसगों मे इसका मन विशेष लगता है। सच्चे अर्थों मे यह जनता का साहित्य है जिसमे इसके स्वरूप का निर्धारण भी विविध वर्गो की मानसिकता, उसकी रुचियो, समस्याओ एव आवश्यकताओं पर निर्भर करता है। अत हिन्दी उपन्यास के मूल तत्वों का विवेचन करना सरल कार्य नही है और ऐसी स्थिति मे उनकी सर्वमान्यता के सम्बन्ध मे अधिक आग्रह करना दुराग्रह ही कहा जाएगा।

हिन्दी उपन्यास के स्वरूप तथा निर्माण पद्धति को समझने-समझाने मे मूल तत्वों का विवेचन एक सीमा तक ही सहायक हो सकता है। उसकी वास्तविक परख के लिए यह मानकर चलना होगा कि उपन्यास का रचना-शिल्प स्थिर नही, बल्कि गतिशील रचना प्रक्रिया है। समीक्षाशास्त्र का इतिहास साक्षी है कि जब कभी कोई लोकप्रिय साहित्य-रूप सामने आया है, अथवा जब कभी कोई महान साहित्कार जन्मा है, उसके अनुसार लक्षणों का निर्माण करने अथवा शिल्प को सज्ञा प्रदान करने के लिए आचार्यों को विवश होना पडा है। प्राचीन वाङ्मय मे जितना महत्वपूर्ण स्थान महाकाव्य का था, आज के युग मे उतना ही महत्वपूर्ण स्थान उपन्यास का है। सच तो यह है कि उपन्यास महाकाव्य का ही एक परिवर्तित तथा आधुनिक रूप है। यह कहना असगत न होगा कि जो कार्य महाकाव्यों द्वारा सभव नही रह गया था, उसे उपन्यास ने सभव किया है। हिन्दी गद्य के विकास के साथ ही साथ कहानी, नाटक, एकाकी, निबन्ध, गद्यगीत तथा उपन्यास आदि साहित्य रूपों का विकास आरम्भ हुआ था और युगीन परिस्थितियों की चुनौती को स्वीकार करने की ओर सभी अग्रसर हुए थे, पर दौड मे बाजी उपन्यास के ही साथ लगी। कविता की तो बात ही छोड़ दे, वह तो अब गद्य के निकट आकर अस्तित्व के लिए सघर्ष कर रही है, पर नाटक, एकाकी, निबन्ध गद्यगीत तथा रेखाचित्र के रूप मे कितना समृद्ध साहित्य लिखा जा रहा है? कहानी, उपन्यास के साथ यद्यपि दौड़ लगा रही है, पर उपन्यास इस मोर्चे पर भी बाजी मार रहा है। लगता है निकट भविष्य मे उपन्यास और कहानी की भेदक-रेखा भी समाप्त होनेवाली है और कहानी हिन्दी उपन्यास का एक रूप बनकर रह जाएगी। उपन्यास

अपनी व्यापकता मे इतना शिल्पगत वैविध्य समेट चुका है कि पूर्ववर्ती काव्य साहित्य मे कुल मिलाकर जितने काव्य रूप नही थे, उससे कही अधिक रूपों मे हिन्दी उपन्यास साहित्य प्रस्तुत है। अत हिन्दी उपन्यास-शिल्प को क्रमिक विकास की एक निश्चित दिशा मे थोडी दूर तक ही देखा जा सकता है इसके पश्चात् तो उसे अनेक दिशाओं में बढते अनेक रूपों मे ही देखना एव पहचानना होगा। उसी प्रकार जिस प्रकार कि एक ब्रह्म अनेक जीवात्माओं मे रूपायित होता है और ब्रह्म उसकी असली पहचान है।

जिस दिन अपनी पूर्व परम्परा से अलग होकर हिन्दी उपन्यास ने अपनी अलग पहचान बनाई और उसे 'उपन्यास' नाम से अभिहित किया गया उसी दिन से शिल्पगत विविधता के चित्र उसमे दिखलाई पडने लगे थे। 'पूत के पाव पालने मे ही देखे जाते है' और परिणामस्वरूप हिन्दी उपन्यास अपनी शिल्प विविधताओ के साथ प्रस्तुत हो आचार्यों के लिए सिरदर्द बन गया है। वे इसे शास्त्रीय बन्धनो मे बाधना चाहते है, और वह बन्धन तोडकर दूर जा खडा होता है। वह निबन्ध भी है और बन्धनयुक्त भी। यही इसमे वह जादुई शक्ति है जो उसे दीर्घ जीवन प्रदान करती जा रही है।

हिन्दी का प्रथम मौलिक उपन्यास किसे माना जाय, इस सन्दर्भ मे सभी विद्वान किसी एक नाम पर सहमत नही है। कुछ लोग पडित श्रद्धाराम फिल्लौरी कृत 'भाग्य-वती' (१८७७ ई०) और अधिक लोग लाला श्रीनिवासदास कृत 'परीक्षागुरु' (१८८२ ई०) को हिन्दी का प्रथम मौलिक उपन्यास मानते है। यहा हम इस विवाद मे नही पडेगे। इतना अवश्य है कि आरम्भिक विकास के इस दौर मे हिन्दी उपन्यास-शिल्प कोई स्वरूप नही ग्रहण कर पाया और जो स्वरूप निर्मित भी हुआ उसकी कोई निश्चित परम्परा नही बन सकी। अधिकाश उपन्यासों पर सस्कृत साहित्य की आख्यायिकाओं का प्रभाव रहा। ठाकुर जगमोहनसिंह कृत 'श्यामास्वप्न' (सन् १८८६) को उदाहरण स्वरूप लिया जा सकता है। इसमे स्वच्छन्द प्रेम की कहानी है जो रीतिकालीन नायिकाओं की परिपाटी को लेकर लिखी गई है। इसमे स्वच्छन्दप्रेम, गधर्व विवाह का औचित्य प्रति-पादन, क्षत्रिय कुमार का ब्राह्मण कुमारी से प्रेम और विवाह का प्रस्ताव आदि की जो योजना की गयी है, वह इस ढग से है कि प्रेम और विवाह के सम्बन्ध मे कठोर सामा-जिक रूढियों के प्रति तत्कालीन शिक्षितों मे व्याप्त असतोष भलीभाति व्यक्त हो जाता है। रीतिकालीन प्रेम प्रसगों के सभी उपकरण इस उपन्यास मे एकत्र कर दिए गए है। नायक, नायिका, सखी-दूती, विरह-मिलन आदि के सभी चित्रण रीतिकालीन परि-पाटी मे है। रचना यद्यपि गद्य प्रधान है, पर अपने प्राचीन काव्य संस्कारो के कारण इसमें अलकृत और चित्रात्मक वर्णनों की भरमार है। इसमे शृगारी कविताओ का भी बाहुल्य देखने को मिल जायगा। इसे उपन्यास न कहकर प्रेम कहानी कहना अधिक तर्कसगत है। इस प्रकार के शिल्प का आगे के हिन्दी उपन्यासो मे उपयोग नही हुआ। वस्तुत. शिल्प विकास का वेग ऐसे उपन्यासों के बाद सामने आया जिसे प्रथम वेग की सज्ञा दी जा सकती है।

हिन्दी उपन्यास साहित्य का प्रथम वेग भी अनेक धाराओं मे फूटकर प्रवाहित हुआ।

आरम्भ से ही कहानी कहना उपन्यास का मुख्य धर्म रहा है। उपन्यास का यह प्रधान गुण है जिसके अभाव में इसका अस्तित्व ही सदेहास्पद बन जायेगा। कहानी सभी प्रकार के उपन्यासों मे अनिवार्यत. पाई जाती है। जिस प्रकार कहानी के रूप को लेकर पाठकों की श्रेणिया बन गई है, उसी प्रकार उपन्यासों के माध्यम से कही जाने वाली कहानी के रूप को लेकर भी श्रेणिया बनी है। उपन्यासों के माध्यम से कही जाने वाली कहानी के रूप भी पाठकों एव लेखको के स्तर के आधार पर भिन्न हुआ करते है। आज इस 'अकहानी' युग मे भी उपन्यास किसी न किसी रूप मे कहानी कहता है। यह इसकी सबसे बडी शक्ति है जिसके बल पर इसने सभी साहित्य रूपो पर अपनी वरीयता स्थापित की है। कहानी कहने और सुनने अथवा पढने का जिस दिन हिन्दी उपन्यास ने माध्यम प्रस्तुत किया उसी दिन से उसकी तीन प्रमुख शिल्पगत धाराये सामने आई। प्रथम 'तिलस्मी और ऐयारी धारा' के प्रमुख उपन्यासकार देवकीनन्दन खत्री थे जिन्होने सयोग वैचित्र्य के द्वारा अस्वाभाविक घटनाओं एव कार्य व्यापारो की सृष्टि कर पाठक को चमत्कृत किया। दूसरी धारा 'प्रेम-रोमास' की थी जिसकी अगुआई किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यासों ने की जिनमे स्वाभाविक एव सामाजिकता की ओर पाठकों को ले जाने की प्रेरणा देखने को मिली। तीसरी धारा के अन्तर्गत आनेवाले गोपालराम गहमरी के उपन्यास थे जिनमे सगठनात्मक विशिष्टता के दर्शन हुए। इनमे घटने वाली घटनाओं एव कार्य-व्यापारों को कथा-जाल के भीतर इस ढग से सन्निहित किया गया कि चमत्कारी होते हुए भी सब कुछ बुद्धि-सगत था। कुल मिलाकर शिल्प की दृष्टि से यही कहा जा सकता है कि उपर्युक्त धाराओं के अन्तर्गत आने वाले उपन्यास, उपन्यास नही मात्र कथाए है जिनमे उपन्यासकार ही प्रमुख है और उसके द्वारा निर्मित पात्र उसके हाथों के कठपुतले। पाठक की दृष्टि उपन्यासकार और उसके द्वारा प्रस्तुत व्यापारों पर ही रहती है न कि चरित्रों पर। इस प्रकार इस खेवे के शिल्प, चरित्रो को अस्तित्व प्रदान करने मे या तो सफल नही हुए अथवा उन्हे अभीष्ट नही था। इतना अवश्य हुआ कि शिल्प विकास के इस प्रथम चरण मे कथा शिल्प का चातुर्य (जिसमे कौतूहल और मनोरजन के बीज थे, तथा सीधी-सादी भाषा, स्वाभाविक प्रवाह को लिये हुए, जिसमे अभिव्यजना शक्ति थी) प्रकट हुआ।

हिन्दी उपन्यास साहित्य मे मुशी प्रेमचन्द का उदय एक ऐतिहासिक घटना थी जिसने हिन्दी उपन्यास साहित्य को साहित्यिक स्तर एव रूप प्रदान किया। उपन्यासकार के स्थान पर पात्र को प्रमुखता मिली और हिन्दी उपन्यास मनोरंजन का विषय न रहकर जीवन की आलोचना एव जीवन द्रष्टा बना। सारा शिल्प बदल गया। कथानक निर्माण पात्र के अधीन हो गया। दैवी घटनाओ एव सयोगों के स्थान पर मानव हृदय और बुद्धि की प्रेरणा का उपयोग होने लगा। प्रेमचन्द के पूर्ववर्ती उपन्यासों मे जो एक निश्चित दृष्टिकोण के अभाव के कारण शिल्प की कोई सुनिश्चित रूप-रेखा सामने नही आ पाई थी, उस स्थिति मे परिवर्तन आया। अब उपन्यासों मे मनोरजन की अधिकता, अस्वाभाविक-कल्पित पात्रों की सृष्टि, आश्चर्य मे डाल देने वाली घटनाओं

तथा कथानक के विलक्षण विकास को उपन्यास शिल्प के लिए निरर्थक माना जाने लगा। संस्कृत की आख्यायिका शैली पर कुछ उपदेश प्रधान तथा धार्मिक भावना को व्यक्त करने वाले जो उपन्यासों की रचना प्रथम खेवे मे हुई थी उनकी भी परम्परा का आगे विकास न हो सका। अतः इसमे दो मत नही है कि मुशी प्रेमचन्द के आगमन के साथ ही हिन्दी उपन्यास मे यथार्थ जीवन चित्रण को महत्व मिला, जिससे उपन्यास की सरचना मे भी परिवर्तन आया। उपन्यासों के जो तत्व प्रेमचन्द को दाय-रूप मे मिले थे, उन्हे दृष्टि-पथ मे रखते हुए और मुख्यत उपन्यास के गुण रजन की रक्षा करते हुए उन्होंने हिन्दी उपन्यास शिल्प का जो समन्वित रूप सामने रखा, उससे उपन्यास को साहित्यिक स्तर और उसके शिल्प को एक निश्चित स्वरूप मिला। इस प्रकार कथा के महत्व चरित्र-चित्रण की अनिवार्यता, भाषा की वास्तविकता तथा आदर्श जीवन सृष्टि की कामना को समाहित करने का शिल्प माध्यम बना। इस युग मे शिल्प और उद्देश्य का समन्वय सामाजिक मगल के परिप्रेक्ष्य मे सामने आया। इस प्रकार वास्तविक अर्थों मे हिन्दी उपन्यास साहित्य को अस्तित्व प्रदान करने का कार्य प्रेमचन्द और उनके समकालीन अनुगामी उपन्यासकारों ने किया। कहानी, भाषा, विषय और समस्या जैसे आवश्यक तत्वों की सहायता से प्रेमचन्दयुगीन उपन्यासो का शिल्प निर्मित हुआ।

प्रेमचन्द के उपन्यासो की प्रवृत्ति युग को मुखरित करने की ओर रही है। उनके चरित्रो के साथ पाठक का तादात्म्य सहज ही हो जाता है, पर उनके चरित्र वही कमजोर साबित होते है, जहा उनके द्वारा वे अपने आदर्शोन्मुख यथार्थवादी दृष्टिकोण के निर्वाह मे लग जाते है। यह मुशी प्रेमचन्द की भावुकता ही थी जो 'गोदान' तक आते-आते अपेक्षाकृत बहुत कम हो गई थी। 'गोदान' मे प्रेमचन्द की दृष्टि ने यथार्थ को उसके अधिक सत्य-रूप मे देखा है। बगाल की नारी-समस्या को सुलझाने मे शरतचन्द्र की उपन्यासकला का जो स्थान है वही स्थान 'गोदान' उपन्यास की कला का उत्तरभारत की कृषक तथा ग्राम-समस्याओ का समाधान प्रस्तुत करने मे है। इस सन्दर्भ मे प्रेमचन्द के ऋण को नही भुलाया जा सकता। वे सचमुच एक द्रष्टा उपन्यासकार के रूप मे सामने आए। 'गोदान' के शिल्प ने प्रमाणित कर दिया कि उपन्यास पाठको को जीने की कला सिखलाता है। सृष्टि निर्माता की भाति ही मानव जीवन का कोई भी रहस्य उसके लिए अपरिचित नही होता।

वस्तुनिर्माण कला की दृष्टि से उपन्यास साहित्य को 'शिथिल' (नावेल्स आफ लूज प्लाट) और सुसगठित (नावेल्स आफ आरगनिक प्लाट) नामक दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। मु० प्रेमचन्द की प्रवृत्ति शिथिल वस्तुविन्यास के गठन की ओर ही रही है। 'गोदान' मे प्रेमचन्द जी ने समानान्तर गाव और नगर से सम्बन्धित दो कथाओं को प्रस्तुत कर दूसरे कथानक की सृष्टि की है। उपन्यास मे एक से अधिक कथाओं का समावेश उपन्यास की 'वस्तु' को सुसंगठित वस्तुविन्यास की ओर ले जाने वाला होता है, उदाहरण के लिए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कृत 'वाणभट्ट की आत्म-कथा' नामक उपन्यास को देखा जा सकता है। ऐसा लगता था कि 'गोदान' की वस्तु

का निर्माण भी इसी ओर जायगा, पर अपनी कृति के अनुसार दोनों कथानकों में बिना किसी प्रकार का उलझाव लाये मु० प्रेमचन्द ने उन्हे 'शिथिल वस्तु' के रूप मे परिणति प्रदान कर दी। इन दोनो कथानको को समन्वित रूप प्रदान करने मे या तो वे असफल रहे अथवा अपने पूर्ववर्ती उपन्यासों से थोडा हटकर वे एक नये वस्तु विन्यास का आदर्श प्रस्तुत करना चाहते थे। 'गोदान' मे सन्निहित दो स्वतत्र कथाये दो भिन्न उद्देश्यो की पूर्ति करती है। उपन्यासकार ने उन्हे परस्पर मिलाने का प्रयत्न किया है, पर दोनो को जोडने वाले सूत्र इतने दुर्बल है कि बडी आसानी से उन्हे अलग किया जा सकता है। चाहे वह शहर से सम्बन्धित पात्रों के 'पिकनिक' का प्रसग हो अथवा रामलीला मे भाग लेने सम्बन्धी 'होरी' के उत्साह का प्रसग हो। ये ऐसे प्रसग है कि जिन्हे बडी आसानी से हटाया जा सकता है और उनके हटा देने से सिवाय इसके कि उपन्यास की 'नाटकीयता' थोडी बाधित होगी, उपन्यास का कुछ बन-बिगड नही सकता।

'गोदान' की गाँव सम्बन्धी कथा का सूत्रधार 'होरी' है जिसके साथ-साथ सम्बन्धित कथा घूमती है। उपन्यासकार ने उसे अनेक परिस्थितियो मे डालकर तथा अन्य बहुत से पात्रो और चरित्रो के ससर्ग मे लाकर भारतीय कृषक समाज के एक जीवत चित्र का निर्माण किया है। अनेक प्रसगों की उद्‌भावना करके लेखक ने गाव की कथा को एक व्यापक धरातल प्रदान कर उसे शहर की कथा मे जोडना चाहा है, पर शहर की कथा समयानुसार बिना किसी कालगत व्यवधान के गाव की कथा के साथ इस प्रकार आकर जुडती है कि उसकी अपनी अलग सत्ता बनी रह जाती है। शहर मे रहने वाले चरित्र 'राय साहब, खन्ना, तरवा, मिर्जा खुर्शेद, मेहता और मालती तथा उनके अन्य सहयोगी मित्र मिलकर एक कथा का उसी प्रकार निर्माण करते है जिस प्रकार कि होरी और उसके सपर्क मे आने वाले लोग। दोनों कथाओ का अपना अलग-अलग रस एव महत्व है और उपन्यासकार के एक निश्चित उद्देश्य की पूर्ति के लिए वे एक दूसरे के पूरक भी है। यही 'गोदान' के शिल्प की अपनी एक अलग विशेषता है जिसके कारण भारतीय गाव और शहर एक ही कृति मे उभर कर सामने आ सके है।

जैनेन्द्र कुमार के उपन्यासो की रचना यद्यपि प्रेमचन्दयुगीन प्रभामण्डल के भीतर ही हुई पर उनके उपन्यासो ने एक नवीन शिल्प पर ढलने की प्रवृत्ति दिखलाई। जैनेन्द्र कुमार द्वारा स्वीकृत शिल्प प्रेमचन्द के शिल्प के ठीक विपरीत है। प्रेमचन्द मे व्यास शैली की प्रधानता है और जैनेन्द्र मे समास शैली के प्रति आग्रह दीखता है। प्रेमचन्द द्वारा चित्रित मानव जीवन की व्यापकता, स्थूल रूप मे बाह्य सामाजिक यथार्थता तथा जनभाषा मे उनकी समस्याओं के उद्‌घाटन एव चित्रण को ही उपन्यास का प्रधान विषय न मानकर जैनेन्द्र ने व्यक्ति को अपेक्षाकृत अधिक गहराई से प्रस्तुत करने के लिए उपन्यास को व्यक्तिवादी धरातल पर लाकर खडा कर दिया। अत यहाँ आकर मनुष्य के बाह्य जीवन की अपेक्षा उसका अतर्द्वन्द्व अत्यधिक प्रभावशाली प्रमाणित हुआ। कथा और उसकी बुनावट तथा विभिन्न प्रसगों के सग्रथन के स्थान पर अन्तर्मन्थन को

उपन्यास शिल्प का आधार बनाया गया जिसमे शिल्प कम, चिन्तन अधिक उभर कर सामने आया। इस क्रम मे आकर मनोवैज्ञानिक उपन्यासों द्वारा प्रस्तुत अस्तव्यस्त शिथिल शिल्प आकर जुड गया जिसमे न तो कथा का कोई प्रभाव देखने को मिलता है और न तो दृढ चरित्र निर्माण के प्रति कोई आग्रह। कथा-शिल्प के इस नवीन प्रयोग और उपन्यास मे कुछ अन्य तत्वों के समावेश के कारण जिनमे मनोविश्लेषणात्मक तत्व मुख्य हैं, जैनेन्द्र को अच्छी ख्याति मिली। अनेक कथानकों के अभाव और घटना तत्वों की बहुलता के न होते हुए भी पात्रो के चारित्रिक खिचाव के कारण ही कथा आगे बढती है। आत्म कथात्मक शैली को भी जैनेन्द्र के शिल्प ने लोकप्रियता प्रदान की जिसका सफल निर्वाह 'अज्ञेय' कृत 'शेखर एक जीवनी' और हजारीप्रसाद द्विवेदी कृत 'बाणभट्ट की आत्मकथा' मे हुआ है। त्रिकोणात्मक सघर्षो के परिणामस्वरूप सीमित पात्रो के बीच कथा विकास-पद्धति को इस शिल्प ने जन्म दिया। आकार गत लघुता मे कथासृष्टि की जिस शक्ति का उदय इस शिल्प द्वारा हुआ उससे शरत्चन्द्र के इस कथन 'छोटे होने से ही तो रस घना होगा' की सत्यता प्रमाणित हुई। जैनेन्द्र के उपन्यास 'सुनीता' को इस दृष्टि से महत्व प्रदान किया जा सकता है। यद्यपि 'सुनीता' मे पति के आदर्श की ही विजय है जिससे इस पर प्रेमचन्द की परम्परा का स्पष्ट प्रभाव झलकता है, पर चित्रण की भूमिका इसमे इतनी बदल गई है कि अलगाव स्पष्ट दिखलाई पडता है। यहाँ नर-नारी के आकर्षण को समाज के प्रतिबन्धो से एक दम ऊपर रखने का नया आदर्श सामने आया। विवाह-बन्धन के भीतर रहकर क्या नारी अपनी प्रेममयी मूल वृत्ति को कुण्ठित नही कर रही है? इसी प्रश्न को लेकर 'सुनीता' मे नारी के तन-मन के द्वन्द्व को सामने लाया गया है। जैनेन्द्र का लक्ष्य उपन्यास के माध्यम से कहानी कहना नही है जिसमें पात्रो की भीड-भाड नहीं दिखती, पर उपन्यास रचना शिल्प का प्रधान अग कुतूहल तत्व जिसकी सृष्टि कहानी के द्वारा ही सभव होती है, सुनीता मे वर्तमान है। यही इसके शिल्प की नवता है। जैनेन्द्र द्वारा प्रस्तुत उपन्यास शिल्प का विकास आगे उस रूप मे तो नही हुआ, पर उसने मनोवैज्ञानिक और मनोविश्लेषणात्मक औपन्यासिक शिल्प को दिशा अवश्य प्रदान की। 'सूरदास' जैसे पात्रों का स्थान 'शेखर' जैसे पात्रो ने ले लिया। हिन्दी उपन्यास साहित्य मे मनोवैज्ञानिक शैली का प्रवर्तन प्रेमचन्द ने किया था, पर ये मनोवैज्ञानिक उपन्यास उनसे नितान्त भिन्न थे। इन पर फ्रायड द्वारा प्रवर्तित मनोविज्ञान का प्रभाव था। 'अज्ञेय', इलाचन्द्र जोशी और डा० देवराज के उपन्यासो मे इस शिल्प को देखा जा सकता है। मनोवैज्ञानिक उपन्यासो की भाति ही 'मार्क्सवाद' से प्रभावित समाजवादी उपन्यास भी सामने आए जिनमे सिद्धान्त और राजनैतिक दर्शन को शिल्प की अपेक्षा अधिक महत्व मिला और इस प्रकार शिल्प का ह्रास अथवा विकास जो कहे, आरम्भ हुआ, जिसका क्रम आज भी चलता जा रहा है।

इसी स्थान पर उल्लेख कर देना आवश्यक होगा कि समानान्तर ऐतिहासिक उपन्यासो की एक धारा भी चली आ रही थी जिसके शिल्प मे अपेक्षाकृत परिवर्तन कम और

सुधार अधिक हुआ है। ऐतिहासिक उपन्यास सोद्देश्य लिखे गए। मोटे तौर पर उन्हे शुद्ध ऐतिहासिक और इतिहासाश्रित दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। शुद्ध ऐतिहासिक उपन्यास प्राय वर्णनात्मक शैली मे लिखे गए है और उनमें चरित्र-चित्रण तथा घटना क्रमो के मूल्याकन को प्रधानता मिली है। इतिहासाश्रित उपन्यासो की कई कोटिया है, उनमे नव सास्कृतिक मूल्यों की खोज और समस्यामूलक चिन्तनों को महत्व प्रदान किया गया है। इस कोटि मे आनेवाले उपन्यासों का शिल्प अन्तर्द्वन्द्व की सृष्टि करने के कारण उतना सीधा नही है जितना कि शुद्ध ऐतिहासिक उपन्यासों का। वर्णनात्मक शैली के साथ-साथ आत्मकथात्मक शैली भी इसमे लोकप्रिय हुई। इस प्रकार किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यास-शिल्प से लेकर जैनेन्द्र के शिल्प विधान तक का सस्कृत रूप हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासो में मिल जाता है। 'चित्रलेखा', 'दिव्या' और 'वाणभट्ट की आत्मकथा' के शिल्प को उदाहरणस्वरूप देखा जा सकता है। हजारीप्रसाद द्विवेदी के उपन्यासो मे तो देवकीनन्दन खत्री तक के उपन्यासों का शिल्प सस्कृत रूप मे मिल जाता है। उदाहरण के लिए उनके उपन्यास 'वाणभट्ट की आत्मकथा', चारुचन्द्रलेख और पुनर्नवा देखे जा सकते है। हिन्दी उपन्यास शिल्प के विकास मे हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यासों की भूमिका महत्वपूर्ण नही कही जा सकती जबकि अन्य उपन्यासों के माध्यम से शिल्प जगत मे अद्भुत विकास हुआ है और शिल्प के इतने प्रकार सामने आ गए हैं कि विकास क्रम मे उनकी सगति बैठाना कठिन हो गया है।

उपन्यास साहित्य की उत्तरोत्तर वृद्धि हो रही है जिससे शिल्प के क्षेत्र मे होने वाले नवीन प्रयोगों से उपन्यासकारों को कोई रोक नही सकता। कथा के सभी तत्वों को पूर्ण समन्वित रूप प्रदान करने वाली सयोजन शक्ति के रूप मे गृहीत शिल्प को हिन्दी उपन्यास की विकास-यात्रा मे विकसित होना ही पडेगा क्योंकि वह औपन्यासिक कृति के ऊपर चढने वाली पालिश नही बल्कि वह रचना प्रक्रिया का आन्तरिक भाग है। कथा और चरित्र जो कभी उपन्यास के प्राण समझे जाते थे, आधुनिक उपन्यासो मे महत्वहीन होते जा रहे है। आचलिक उपन्यासो मे चरित्र की प्रधानता का स्थान विशिष्ट भूखण्ड का चित्रण लेता जा रहा है और अस्तित्ववादी उपन्यास मे चिन्तन तथा जीवन दर्शन ने कथा और चरित्र दोनों से हाथ जोड लिया है। अत नवीनतम प्रयोगों में कथा के ह्रास और नायक की मृत्यु के दर्शन होते हैं।

वस्तु निर्माण और कथा सघटना को लेकर हिन्दी मे इधर कई अच्छे नये प्रयोग देखे जा रहे हैं। एक कथा के स्थान पर अनेक कथाओं, एक प्रमुख पात्र के स्थान पर अनेक चरित्रों, कालविशेष के स्थान पर अवधि विशेष तथा व्यक्ति के स्थान पर वशपरम्परा आदि को हिन्दी उपन्यासों मे महत्व मिलने लगा है। उदाहरण के लिए रुद्रकाशिकेय कृत 'बहती गगा', धर्मवीर भारती कृत 'सूरज का सातवा घोडा' और भगवती चरण वर्मा कृत 'भूले बिसरे चित्र' का उल्लेख किया जा सकता है। चौबीस घटे की कहानी से लेकर चौबीस वर्षों तक की कहानी पर उपन्यास लिखे जा रहे है। गिरधर गोपाल कृत 'चादनी के खण्डहर' और भगवतीचरण वर्मा कृत

'भूले बिसरे चित्र' तथा यशपाल कृत 'झूठा सच' जैसे उपन्यासों को इस क्रम मे देखा जा सकता है।

लघु उपन्यासो की शृखला मे जहा एक ओर ममता कालिया के 'बेघर' जैसे उपन्यास कहानी (लम्बी कहानी) के तौल पर गढे जा रहे है वही निर्मल वर्मा के उपन्यासो मे कथा का सिलसिलेवार बहिष्कार कर दिया गया है। 'वे दिन' और 'लाल-टीन की छत' जैसे उनके उपन्यासो मे एक नए मुहाविरे की तलाश है। श्रीलाल शुक्ल कृत 'राग दरबारी' जैसे उपन्यासों की भी सभावनाओ से इन्कार नही किया जा सकता जिन्हे उपन्यास कह कर चित्रों का 'अलबम' कहना ज्यादा अच्छा होगा। जगदम्बा प्रसाद दीक्षित कृत 'मुर्दाघर' बम्बई की झुग्गियों मे रहने वाली और पेट के लिए विवश पेशा करने वाली स्त्रियों और जेब कतरो तथा भिखमगो का अत्यन्त यथार्थ चित्र बेलाग भाषा मे प्रस्तुत करता है। उपन्यास मे न तो कोई खास कहानी है और न तो चरित्र-चित्रण के प्रति आग्रह। पात्रो की अच्छी खासी भीड है, पर कुल मिलाकर इतना प्रभावशाली बन पड़ा है यह उपन्यास की इस उपेक्षित वर्ग के प्रति उत्पन्न करुणा मे पाठक ऐसा डूब जाता है कि उपन्यासकार द्वारा यथास्थान प्रयुक्त अश्लील ग्रामीण शब्द एव अवाछित प्रसग उसे तनिक भी नही खटकते। यह डायरीनुमा उपन्यास आचलिक कहे जाने वाले उपन्यासो की अगली कडी जान पडता है।

जिस प्रकार की ऐतिहासिक उपन्यासो की समानान्तर धारा का उल्लेख मैने किया था, उसी प्रकार की एक ऐसी धारा इस समय भी वर्तमान है जिसमे ऐतिहासिक एव पौराणिक प्रसगों को लेकर सामयिक समस्याओ का या तो मूल्याकन किया जा रहा है, या तो उनपर व्यग्य प्रस्तुत किया जा रहा है। अमृत लाल नागर कृत 'एकदा नैमिषारण्ये', लक्ष्मीकान्त वर्मा कृत 'टेराकोटा' और लक्ष्मीनारायण लाल कृत 'हरासमन्दर गोपीचन्दर' जैसे उपन्यासो का इस सन्दर्भ मे उल्लेख किया जा सकता है। इनमे प्रेमचन्दयुगीन आकारगत विशालता एव कथात्मकता भी मिल जायगी और अभिनव दृष्टिकोण एव व्यग्यात्मक तीखापन भी। प्रस्तुतीकरण की विशेषता को छोडकर इनके शिल्प मे कोई उल्लेख-नीय नवता नही है।

कुल मिलाकर इस अल्पावधि मे जितनी शिल्पगति विविधता हिन्दी उपन्यास साहित्य में देखने को मिलती, समूचे हिन्दी साहित्य मे उसे देख पाना कठिन है। हिन्दी उपन्यास शिल्प ने अब प्रमाणित कर दिया है कि साहित्य की सभी अभिव्यक्ति पद्धतियों को तो उसने अपने मे समाहित किया ही है, अनेक नवीन पद्धतियों का भी वह जनक है।

कल्पना तो आरम्भ से ही हिन्दी उपन्यासों का प्राण रही है इसके अतिरिक्त बिम्बों और प्रतीकों का जितना सुन्दर एवं सफल प्रयोग हिन्दी उपन्यासो द्वारा सभव हुआ है उतना अन्य किसी साहित्य रूप द्वारा सभव नही हो सका है। प्रतीक आधुनिक साहित्य की उत्तमता की कसौटी बनता जा रहा है जिससे उपन्यास साहित्य मे उसकी लोकप्रियता बढी है। राजकमल कृत 'मछली मरी हुई' मे 'लघु' एव 'प्रौढ' प्रतीकों का सफल निर्वाह हुआ है। लघु प्रतीक (माइनर सिम्बल) का परिस्थितिगत महत्व होता है और वे

एक या दो दृश्यों मे आकर अपनी कलात्मकता से साहित्य रूप को समृद्धि प्रदान करते हैं—निर्मल पद्मावत और कल्याणी का एक कमरे मे बन्द होना और निर्मल पद्मावत का पेटीकोटो और स्कर्टों की कतार के पीछे दीवार से लगे नग्नकाल का देखना, ऐसा ही एक लघु प्रतीक है जो उपन्यास को कई महत्वपूर्ण अर्थ दे जाता है। प्रौढ (मेजर सिम्बल) प्रतीक ममूची कृति पर छाया रहता है जैसे 'मछली मरी हुई' शीर्षक स्वय प्रौढ प्रतीक के रूप मे प्रयुक्त हुआ है। जिम प्रकार सभी मछलिया जीवन पाकर जीवित हो जाती है उसी प्रकार इस उपन्याम के सभी कुण्ठाग्रस्त पात्र कुण्ठा समाप्त होते ही अपना स्वरूप पा जाते है और जीवन का स्वाभाविक प्रवाह चल निकलता है। इसी प्रकार नागार्जुन के उपन्यास 'बाबा बटेसर नाथ' मे बटेसर नाथ, हजारीप्रमाद द्विवेदी के उपन्याम 'वाणभट्ट की आत्मकथा' मे 'महावाराह' का चित्रण प्रौढ प्रतीक के रूप मे हुआ है। इसी प्रकार देश-काल की सीमाओ को तोडने की शक्ति रखने वाले 'बिम्बो' का भी प्रयोग देखा जा सकता है। 'गोदान' देश काल की सीमाओं का अतिक्रमण करता है। स्मृत बिम्बो से तो हजारीप्रसाद द्विवेदी के उपन्यास भरे पडे हैं। रसगध के बिम्ब से राजकमल कृत 'मछली मरी हुई' उपन्यास समृद्धवान है। द्विवेदी जी का 'महवाराह' जहा एक ओर 'वाणभट्ट की आत्मकथा' मे प्रौढ प्रतीक के रूप मे प्रयुक्त है वही दूसरी ओर वह उपन्यास मे केन्द्रवर्ती 'मिथक' भी है। यह प्रौढ प्रतीक एक पौराणिक कथा के साथ प्रस्तुत होने के कारण 'मिथक' बन गया है। इस प्रकार उपन्याम की सृजन प्रक्रिया को शक्ति प्रदान करने मे उपर्युक्त तत्व सहायक होते हैं।

इसी प्रकार विषय, भाव, वस्तुविन्यास एव अभिव्यजन कौशल के धरातल पर हिन्दी उपन्यास ने इतनी विविधता प्राप्त कर ली है कि इस अवसर पर उन सबका उल्लेख कर पाना मभव नही है। इस प्रकार का शिल्पगत वैविध्य हिन्दी उपन्यास साहित्य के विकास का सूचक है और ऐसे विकासशील साहित्य रूप के सम्बन्ध मे कुछ दो टूक कह देना और दावा करना कि अतिम बात कह दी गई, उचित नही।[१]

१. हिन्दी भवन, शान्तिनिकेतन के सेमिनार मे पठित।